तायें सुनीं जिनमें आज इस समय कोई भी याद नहीं है। किन्तु एक पंक्ति, जिसने मुझे सब से अधिक आकृष्ट किया, थी—

*सारी दुनिया तन्द्रालस है, आग लगी है कवि के घर में।*

कवि का नाम मेरे लिये, कम-से-कम, नया था। सोचा—होगा कोई। पर इस नए कवि और उसकी इस नई पंक्ति को तो मैं कभी भूल नहीं सकूँगा।

सरदी के दिन हैं। बारह अभी अभी बजा है। जॉर्ज टाउन से दारागंज लगभग दो मील पड़ता है। आज सरदी और दिनों से कुछ ज़्यादा भी है। सड़क पर इक्का ताँगा, कहीं कुछ नहीं दिखलाई पड़ा। और रात भी यह अँधेरी है। बातचीत का ताँता टूट नहीं रहा है। 'अञ्चल' जीने कहा—'भाई, अब चल दिए।' सुरेन्द्र बाजूपुरी और हमारे एक और भावप्रवण साहित्यकार, 'नम्बर तीन' साथ हो लिए। बोले—'चलो, थोड़ी दूर भेज आए।' अब हम चार व्यक्ति इस सूने राजपथ पर, इस घोर काली रजनी में, चहल कदमी करते हुए चल रहे हैं। सुरेन्द्र जी तो प्रगतिशील ही ठहरे। 'अचल' जी का क्या कहना! ऐसा जान पड़ता है मानों कविता, युग और प्रगति उनमें समा नहीं पाती है। बहस चल रही है। लेकिन सुरेन्द्र जैसे चौकन्ने हो पड़े। बोले—बस, अब हम लौट पड़े।

प्रश्न उठा—और आप?—प्रश्न यह उस भावप्रवण तीसरे साहित्यिक मित्र से किया गया था।

उन्होंने उत्तर दिया—हम, जहाँ पान सिगरेट, कुछ भी मिल गया वहीं से हम भी लौट पड़ेंगे। आखिर, ऐसी काली रात क्या रोज रोज मिलती है!

अनुमान था। लोकनी बाग में शायद दूकानें खुली हों। तय तय हुआ, अच्छा, वहाँ तक और चले चलते हैं।

फिर बहस चल पड़ी। एक पक्ष है कि साहित्य मनुष्य को जानवर

बनने से रोकने के लिए है। वह सीमा है कि मनुष्य जिस ओर जिस तरह चाहे, भाग न खड़ा हो ताकि रास्ते में जिसे चाहे उसे कुचल डाले और अन्त में हिंसा का पात्र बने। वह विवेक है। मनुष्य हिन्सक हो गया है। नारी और पैसे को उसने अपनी निजी सम्पत्ति समझ लिया है। यह महल और ये घास फूस की झोपड़ियाँ अपने में परस्पर जो अन्तर रखते हैं उसे नष्ट करना होगा। और यही काम होना चाहिए हमारे साहित्य का।

दूसरा पक्ष पाठकों के लिए देखने में इतना सुहावना नहीं है। साहित्य निरा विवेक हो, सो बात नहीं। विवेक के घाट पर तो मरण और जीवन, दोनों पड़ोसी हैं। महल की महत्ता स्थूल दृष्टि से स्वीकृत हुई है। झोपड़ी की भी अपनी गरिमा है। महल चाहे तो झोपड़ी पर खुल कर हँस ले किन्तु, तब भी, झोपड़ी का यह अधिकार बना ही रहेगा कि वह किसी राजकुमार को, उसकी चरम तृष्णा के क्षण, मिट्टी के सोंधे पात्र में शीतल जल देकर उसकी प्राण-रक्षा करे। महल इस क्षेत्र में उससे सदैव ईर्ष्या करता रह गया है। मनुष्य ने हिंसक बनकर महल खड़े कर लिए, मनुष्य ने साम्राज्य बना डाले। इस तरह कुछ थोड़े से व्यक्तियों ने शोषण को एक पेशा बना लिया है। युग की माँग है कि हम ऐसे मनुष्य को नष्ट कर दें। बहुत पवित्र विचार है। किन्तु, मनुष्य के इस आर्थिक संघर्ष से परे उसकी एक और स्थिति भी तो है। वह है उसके मन का संतोष, उसकी तृप्ति। तब, प्रश्न न महल का है, न झोपड़ी का। प्रश्न तो है सामूहिक रूप से मनुष्य-मात्र के आन्तरिक आनन्द की सृष्टि का। साहित्य उसी आनन्द का सृजन है!

लो, आ गए हम अलोपी बाग़ में। लेकिन पान की दूकान! और सिगरेट!

सुरेन्द्र—हम तो चल दिए। हम सिगरेट से ऊपर हैं। (हालांकि, पीते वह बहुत हैं!)

नम्बर तीन मित्र—अब, इस बात पर तो हम सिगरेट पीकर ही लौटेंगे! उससे हम ऊपर हैं तभी तो हम उसे फूँक कर ही दम लेंगे।

और दस मिनट बाद, सुरेन्द्र पैदल लौट गए और नम्बर तीन मित्र पान सिगरेट की तलाश में दो मील चल कर आए और तब, एक तांगा कर मजे-से उड़ गए।

और दोनों आजकल एक ही कॉटेज में रह रहे हैं!

× × × ×

ऊपर तीन चित्र दिए गये हैं। उस रेस्तोरां वाले 'अरिस्टोक्रैट' युवक में, रेडियो कवि-सम्मेलन के 'नए' कवि में और उस दिन रात की गोष्ठी के साहित्यिक 'एडवेंचरस मित्र', 'नम्बर तीन', मे जिस व्यक्ति की रेखाये दी गई हैं, वे हैं इस उपन्यास के लेखक श्री सर्वदानन्द वर्मा। रहन सहन मे, जहाँ तक बाहरी वेश-भूषा का सम्बन्ध है, वे उच्चवर्ग के हैं। व्यक्तित्व और व्यक्तिगत जीवन उनका भीतर और बाहर दोनों रूपों में, उच्च और निम्न दोनों वर्गों की प्रवृत्तियों का समन्वय है—ऐसा जिस पर किसी को भी सहज ईर्ष्या हो सकती है! शासन वे करते हैं तो केवल सेवकों पर ही नहीं, मित्रों के साथ भी उनका शासन ही चलता है। और मित्रता भी उनकी उतनी ही शिथिल और चरम उदार है—ऐसी कि सेवकों से भी आदेश करते हुये मानो प्रार्थना करते प्रतीत होते हैं। ईश्वर पर विश्वास न करते हुये भी वे बड़े प्यार और हठ से अपने कमरे में टेबिल के सामने ऐसा कैलेंडर रखने की चेष्टा करते हैं जिसमें भगवान शंकर का चित्र दिया गया हो। साथ ही, वे अपने पूज्य पिताजी (स्वनामधन्य सम्पूर्णानन्दजी) का चित्र भी वहाँ अवश्य रखते हैं। सर्वदानन्द के अन्दर का भावुक कलाकार इन दोनों चित्रों में सादृश्य-सा देखता है।

इस प्रकार, 'नरमेघ' का यह विरोधी तत्वों से निर्मित उपन्यासकार पुरानी पीढी के लेखक-वर्ग से सर्वथा भिन्न, एक नवीन प्रतिभा है। वह समझौता करना जानता ही नहीं। चारों ओर से वह 'अति' है। एक नम्बर का हठी, मौजी, एक सीमा तक उच्छृखल और उत्तर-दायित्व-हीन भी। ऐसा लगता है, उसके जीवन में कहीं कुछ गहरा अभाव भी है, तीव्र व्यथा भी है, विराग भी है, जैसे जीवन में उसे कुछ मिला नहीं। यह मौज और मस्ती, यह अस्तव्यस्तता, कह उच्छृ-खलता और ये व्यसन—ये सब उसके हृदय की पीडा को भूले रहने के लिये आवरण-मात्र है। कभी कभी उसकी मुखाकृति से यह भी पता चलता है। आज के सामाजिक संगठन का घोर शत्रु, वैवाहिक-जीवन, समाज की युगों से चली आ रही प्रचलित और रूढिबद्ध रीति-नीति संयुक्त-परिवार की मर्यादा और उसके उत्तरदायित्वों से जैसे सर्वथा परं वह अपने को मानता है—'तथाकथित' नैतिकता पर उसका विश्वास नहीं, चरित्र को मोम वह नहीं समझता जो जरा-सी आँच से पिघल जाता हो ! समस्यायें वह मानता है और उन्हें खडी कर के अलग हट जाता है। जान पडता है, उसका शब्द-शब्द सिंक्लेयर की 'ओशना' के रूप में बोल उठता है—मै कुछ नहीं जानता। मै इसका उत्तरदायी नही हूँ। मुझसे मत पूछो, क्या सही है और क्या गलत ! एक ओर वह स्वाभाविक मानवी-वृत्तियों का शिकार है, दूसरी ओर उनके असीम आकर्षणों के प्रति शिलाखण्ड ! बीच की जो दीवाल है। उसे वह मानता है। वही उसका बल है। वह है—सिसिअरिटी। और जहाँ तक साहित्य की सृष्टि का सम्बन्ध है, इस बात को मैं साहित्य में बहुत अधिक महत्व की वस्तु मानता हूँ।

सर्वदानन्द यथार्थवादी उपन्यासकार है। उपन्यासकार और कवि दोनों ही साहित्यकार मूलत रोमैंटिक होते हैं। साहित्य-पुरुष जब पहले पहल अपनी सुधि सम्हालता है तब वह सौन्दर्योपासक होता

है। सृष्टि अमित है, सौन्दर्य भी अमित है। उसी अमित सौंदर्य को समझने और उसे पाने की चेष्टा मे रोमैंटिक साहित्यकार गा उठता है। गीत का गायक कवि हो जाता है और उसका गद्यात्मक व्याख्याता उपन्यासकार। विश्व-साहित्य के बड़े से बड़े यथार्थवादी उपन्यासकार भी सौंदर्य के मोह को संवरण नहीं कर पाए। पर यह है आरम्भिक स्थिति। जीवन चाहे जितना सफल हो, अन्त में वह किसी न किसी रूप मे ट्रैजिडी ही है। आज के सघर्ष ने तो उसे इतना कटु बना दिया है कि वह, औसत रूप में, विषाक्त हो गया है। यथार्थवादी उसी विषाक्त जीवन का व्याख्याता है।

नरमेघ हमारे आज के सभ्य जगत का एक चित्राकन है। सदाशिव, अधेड़ होकर भी द्वितीय विवाह करके ज्योति जैसी असाधारण नारी को विवाह पाश में बद्ध करके ले आते हैं। अनूप उनका चरम भावुक और युवक पुत्र है। उसके 'लाइक्स' और 'डिस्लाइक्स' निश्चित हैं। वह नवयुवती विमाता को मा के रूप में ग्रहण करने को तयार नहीं होता। विवाहित होते हुए भी, इसी भावावेग और अपनी स्त्री से मानसिक रूप से सन्तुष्ट न होने के कारण वह घर छोड कर चल देता है। मानसिक हलचल को दबाने के विचार से ज्योति भी स्वामी का कक्ष त्यागकर दूसरे शहर में जाती और एक होटल में ठहरती है। वहाँ अनूप पहले से ठहरा हुआ है। दोनों एक दूसरे से अपरिचित हैं। अनूप यहा जीवन कृष्ण है और ज्योति रेखा। आज के समाज की परिभाषा मे, दोनों का अवैध सबन्ध हो जाता है। यकायक सदाशिव बीमार पडते हैं। तार पाकर ज्योति वहाँ जाती है। पत्रों में पिता की बीमारी का समाचार पाकर अनूप भी वहा जा पहुचता है। यहीं, अनूप की बहन प्रभा कहती है—भैया, यही मा हैं, इनके चरण छुओ। अनूप ज्योति के झुके हुए मुख से, तत्काल नही जान पाता कि यह वास्तव में उसी होटलवाली उसकी......रेखा है! वह पाव छूने को

चढता भी है किन्तु उसी समय ज्योति मूर्छित हो जाती है। अन्त में ज्योति को बच्चा भी होता है। ससार की दृष्टि में वह बच्चा सदाशिव का है, अर्थात् अनूप का भाई, किन्तु इसकी वास्तविकता क्या है, यह स्पष्ट है।

उपन्यास में एक दूसरा चित्र भी है। देवेन्द्र अनूप का मित्र है और देवेन्द्र की पत्नी उर्म्मिला अनूप की प्रेयसी। अनूप वहाँ भी उन्मुक्त होकर जीवन के खेल खेलता है। फलत देवेन्द्र उर्म्मिला को स्वतन्त्र कर देता है। वह मानने लगता है कि नारी तभी तक नर की निजी सम्पत्ति है जबतक वह आर्थिक दृष्टि से हीन है। आर्थिक परावलम्ब से मुक्त भविष्य की नारी कभी पति का ऐसा अनुशासन स्वीकार न करेगी। अतएव वह उससे यही चाहता है कि वह स्वतन्त्र रूप से जीवन यापना करे।

इन चित्रों में स्वाभाविकता है, न्याय और सत्य के लिए सघर्ष और आवेग। इनमें प्रासगिक तीव्रता और आत्मचिन्तन भी है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या यही आधुनिक समाज का यथार्थ चित्र है? पुरातनपथी, भ्रम से भरे आदर्शवादी और आँख रखने पर भी अन्धे समाज-सेवक भले ही कहें,—यह 'एक्सेप्शन' है, अपवाद है। किन्तु मैं कहता हूँ—हाँ, यही आज का यथार्थ चित्र है। भले ही वह परदे के भीतर का हो। माना कि देवेन्द्र आज के लिए दुर्लभ है, किन्तु यदि वह उपन्यासकार का आदर्श ही हो तो? इसमें क्या उसका पथ-निर्देश नहीं है?

नरमेध की पृष्ठभूमि रोमैन्टिक है, अभिव्यञ्जना यथार्थवादी। मनुष्य के मुक्त विकास में सर्वदानन्द की कल्पनाएँ अपने सामने एक उज्वल भविष्य देखती हैं। इस तरह वे प्रगतिशीलता की आग-सी सुलगाते चलते हैं। उनके नारी चित्रों का धरातल शरच्चन्द्र से यत्र-

तत्र जहां कुछ प्रभावित-सा जान पड़ने लगता है, वहीं उनका प्रकट रूप से कटु-भाषी किन्तु अन्तर-से प्रगतिचेता कलाकार विद्रोह कर उठता है। जो लोग कहा करते हैं कि हिन्दी कथा-साहित्य वंग कथा-साहित्य की सस्ती भावुकता का अन्ध अनुकरण है, नरमेध उन लोगों के लिए एक तगड़ा और सफल उत्तर है!

दारागंज, प्रयाग
२०-४-४१

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

You say, I am wrong
Who are you, Who is anybody
to say, I am wrong ?
I am not wrong

—D H Lawrence

## पहले

नरमेघ मेरा तीसरा उपन्यास है । 'सस्मरण' के बाद और 'रानी की डायरी' के पहले । इसमें मैं बीते हुए कल से आगे हूँ। जो विचार मेरे हैं, प्रगतिशील उन्हें कहें या प्रक्रियामूलक, ( प्रगतिशीलता भी तो सीधीसादी रोमान्टिसिज़्म की प्रक्रिया ही है न ! ) बहस करने को उनपर मैं तयार नही । जो हैं, हैं । यह नहीं कि पलायन की भावना से मुझे तर्क करने से इन्कार हो, या अपने विचारों पर स्वय ही मुझे विश्वास न हो पर इसलिए कि बहस से कुछ हासिल कर पाने की मनस्थिति आज अधिकाश जनों में नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि भविष्य के आर्थिक आधारो पर स्थित समाज की रूपरेखा देने की चेष्टा इसमें मैंने अवश्य की है ।

उपन्यास लेखन साधारण काम नही, नही वह दिल का बुखार है । वह कला है यद्यपि 'कला कला के लिए' वाली नहीं । वह 'कला' मेरे पास नहीं । पैसे के लिए चौबीस-चौबीस घटे जागकर जो साहित्य कलम से झरता है वह केवल 'कला' के लिए नहीं हो सकता । यह भी असभव है कि साहित्य पर आज के सघर्ष, आज की विषमता और परिस्थितियों का कोई प्रभाव न पड़े । दोनों समय जिस साहित्यिक को, वह पुरुष हो या स्त्री, रोटी के लिए सोचना पडता हो, थोडे से प्रेम के लिए जो हाय हाय करता रहता हो उसकी कहानी या कविता, उसका महल मात्र सपनों की नींव पर, कल्पना की भित्ति पर नहीं खडा हो

सकता। इतने पर भी यदि वह 'कला कला के लिए' सोचता है तो धोखेबाज है। अपने को और दुनिया को ठगता है।। मेरे पास छल का वह बल नहीं, यह मैं स्वीकार करता हूँ। मैंने सदा, सर्वदा इस बात की चेष्टा की है कि जो देखूं, जो अनुभव करूँ वही लिखूँ। जो सत्य मैं देता हूँ और आगे दूँगा, उससे इन्कार कर पाने का बल किसी की छाती में नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है।

लगभग मेरी हर चीज में चरित्र विवाहित हैं। उन्हीं के सुख दुख, आशा निराशा को लेकर मेरे महल खड़े हुए हैं। कारण है कि विवाहित कहे जानेवाले स्त्री पुरुषों के हृदय का पता मुझे बहुत है। विवाहित दम्पतियों का आत्महनन मैंने बहुत देखा है, सभी जानते हैं। बस, कहने का साहस किसी में नहीं, न कोई सुनना ही चाहता है। तो, इस उपेक्षा से तो सत्य दब नहीं जाता। इसका हल खोजना ही होगा और वही यहाँ भी है। वह हल कोई न समझे, हो सकता है पर समस्या जो है वह मृत्यु की भाँति कठोर सत्य है। मैं मानता हू कि सबको सब कुछ करने का अधिकार है, उस सीमा तक जहाँ तक दूसरे की तत्सम स्वाधीनता में विघ्न नहीं पडता। यह मैं गलत मान लेता पर देखता हूँ, कितने ही दम्पति—निःसन्देह वे मेरे निकट आदर्श हैं—इस उसूल पर चल रहे हैं और उनका जीवन सुखी और सन्तुष्ट है। जब तक साथ रहते हैं, एक आवेग के साथ, रस के साथ, और मन की पूरी भेंट के साथ। दोनों यह जानते हैं, दोनों का यह आपसी समझौता है जो मात्र इच्छा से टूट जा सकता है, धर्म और भगवान का हौआ उनके आगे नहीं होता। यहाँ एकाधिक उदाहरण ऐसे दम्पतियों के याद आ रहे हैं। विपरीत इसके, ˙ भी पुरुषों से जीवन में साबका पडा है जो बात करने में म.` भी कान काटते हैं—'हमारे' का अर्थ है उन लोगों से ो एक नये समाज और सरकार की कल्पना करते हैं—

पर जिनका ध्यान सदैव इस बात की ओर उन्मुख रहता है कि उनकी स्त्री किसको देखकर हँसती है, उन्हें छोड़ किसे देखती है, किससे बात करती है ! दरवाज़ों और खिड़कियों पर घनी चिकें डालकर, रात को होशियारी से घर का कोना कोना बन्दकर और बिना अपनी इच्छा उसे किसी के आगे न निकलने देकर जो समझते हैं, अपना कर्त्तव्य वे निभा रहे हैं। एकाधिक उदाहरण इसके भी सामने हैं, ताजा मिसाल लखनऊ के हिवेट रोड के एक मकान की है जहाँ इतनी रोकथाम के बावजूद भी एक घटना सुनकर मैं चकरा गया था। इन अक्ल के दुश्मनों से कोई पूछे—तुम होते कौन हो जो अपनी ही तरह के हाथ पाँव वाले एक और इन्सान को गाय भैंस की श्रेणी में समझते हो ?

जवाब उनके पास तयार होगा, हम उसका खर्च चलाते हैं ! तो बस, यही खर्च, आर्थिक परवशता ही सारे झगड़ों की बुनियाद है। हम इसी को हल करना चाहते हैं । हम जिस कल्पना को पालते हैं वह तभी—उसी युग में सभव है जब उत्पत्ति के साधन वैयक्तिक न होकर, समाज के हित के लिए, सार्वजनिक हो जायँगे। स्त्री जब 'सम्पत्ति के दायरे से निकल कर स्वय 'व्यक्ति' हो जायगी। आत्मनिर्णय का उसे पूरा पूरा अधिकार होगा। सन्तान न होगी, यह कोई नहीं कह सकता क्योंकि यह तभी सभव है जब नर-नारी का सम्मिलन बन्द हो जाय। हमारी यह मन्शा हरगिज, हरगिज, हरगिज नहीं है। स्त्री पुरुष मिलें—जरूर मिलें पर जब नारी को यह अधिकार भी होगा और उसमें यह क्षमता भी होगी कि वह कह सके—यह सन्तान मेरी है, इसपर किसी का हक नहीं। और, तीन या चार बरस बाद जो उस सन्तान को किन्डरगार्टन स्कूल में भेजकर सरकार के हाथ सौंप देगी, निश्चिंत हो रहेगी। पूँजीवाद की उपज है सतीत्त्व, और जब औद्योगिक विकास इतना हो जायगा कि सतीत्व और पातिव्रत नारी स्वेच्छा

से, जबतक ज़रूरत होगी तब तक, पालन करेगी। तब यह न कहा जा सकेगा कि परिवार की रक्षा के लिए नारी को एक पुरुष के सिवाय दूसरी ओर न देखना चाहिए। सन्तान के प्रश्न के साथ एकबात और भी है। हमारा ख्याल है, जबतक स्त्रियों का शारीरिक और बौद्धिक विकास स्वतंत्र रूप से अनुकूल वातावरण और परिस्थितियों के साये में, न होगा तबतक उनकी सन्तान भी जैसी चाहिए वैसी न होगी। यों तो, मी का लड्डू टेढ़ा भी भला होता है। आज जैसी सन्तान की जरूरत है वाह तभी हो सकती है जब नारी को भी उत्पत्ति के साधनों में समानाधिकार हो, उन्हें बच्चे लाचारी और परवशता के कारण अथवा भोग्या होने के परिणामस्वरूप न पैदा करनी पड़े। यह तभी सभव है जब नारी स्वय को समाज का एक आवश्यक और स्वाधीन अस्तित्व वाला अंग समझ कर स्वेच्छा के आधार पर सतानोत्पत्ति के कार्य मे प्रवृत्त हो। नर की जरूरत उसे होगी पर वह नर कौन हो, यह वह स्वय निर्धारित करे। जब आत्म-समर्पण न रहकर आत्मसतुष्टि हो जाय क्योंकि तब उसकी जीविका परमुखापेक्षी होने पर नहीं, स्वमुखापेक्षी होने पर निर्भर होगी। हमारी व्यवस्था, जिसके साये में हमारी कल्पना पल रही है—यह नहीं स्वीकार करती कि सतान-प्रसव के लिए नारी को किसी एक पुरुष के साथ बँधकर रहना जरूरी है, न वह धर्म सी चीज को ही स्त्री-पुरुष के भौतिक सबधों से सबधित करती है।

ऐसे बहुत से लोग हैं जो अभी हमारी बातें—हमारा लिखना नहीं समझ पा रहे। उन्हें लगता है, हम समाज, सभ्यता और सस्कृति का अपने गला घोंट रहे हैं, उसके शत्रु बन रहे हैं। नारी किसी दिन स्वय उपार्जन करेगी, कर सकेगी और सेक्स सबधों मे भी 'तत्सम् स्वाधीनता' वाला सिद्धान्त लागू हो सकेगा, यह उनकी समझ में ही नहीं आ सकता। युग युग से पूँजीवादी सस्कार, जो मन मे दृढ होकर जमते गए हैं उनसे छुटकारा पाना वे नहीं चाहते। फैशन की चीज बनाकर

नारी को वे रखना चाहते हैं---छुई मुई सी ! मानव के विकास क्रम की ओर से मुँह फेर, औद्योगिक उन्नति और तज्जन्य परिस्थितियों की अव-हेलना कर वे अपनी ही दुनिया में अपने तरीक़े पर सोचते रहते हैं। मैं उनसे इतना ही केवल विनम्र कह देना चाहूँगा—महाशय, आप जो हमें समझते हैं, ठीक वही हम आपको समझते हैं। हमारा ख़्याल है, समाज और संस्कृति को आप रसातल भेजने पर तुले बैठे हैं---स्पष्ट है कि लाख हाथ पाँव फटकारने पर भी वे जाही रहे हैं—और आप अपने से तो शत्रुता कर ही रहे हैं, देश के भी आप जानी दुश्मन हैं। आप, अच्छा हो यदि एक बार ढोंग का आवरण छोड़, अपना अध्य-यन कर जायँ ।

वर्तमान परिस्थिति में—जब नारी स्वयं भी अपना स्वयं नहीं चला रही और पति को सर्वस्वदान भी नहीं कर पाती—क्या हो, यह प्रश्न उठे तो उठ सकता है। पति यदि थोड़ा सहिष्णु और उदार हो ले तो उससे लाभ ही संभव है। यह जान लेने पर कि पत्नी मेरी मुझे ही सर्वस्व नहीं मानती—नहीं मान सकती, ( यह सर्वस्व न मानने की भावना चाहे मानसिक असन्तुष्टि की उपज हो या शारीरिक ) पति उसे सुविधा थोड़ी दे तो प्रलय आने की संभावना नहीं है। मैं यह नहीं भूल रहा कि जिसके लिए हम अपनी सारी चिन्ता सुरक्षित समझते हैं, जो हमारा दिया खा रही है वह मात्र हमारे हो लिए रहे, यह इच्छा पुरुष की सर्वथा स्वाभाविक है । पर यह भी भूलने से नहीं चलेगा कि हमारी इस चिन्ता और हमारे दिए भोजन वस्त्र का पूरा पूरा मूल्य स्त्री परिवर्तन में घर की व्यवस्था बनाए रहकर चुका देती है। कोई तो इस काम के लिए हमारे पास, घर में, रहेगा ही, तबतक जबतक कि होटल-सिस्टम नहीं चल पड़ता, परिवार प्रथा का आमूल नाश नहीं हो जाता। साथ ही पुरुष स्त्री में, सुविधा देने के साथ ही, यह भावना भी भरता जाय कि अपने पावों आप खड़ी हो ताकि उसके

लिए भी पुरुष का मुँह न जोहना पड़े। उसमें बल आए, स्कैंडल बढने पर पार्थक्य की जो नौबत आ सकती है उससे अपनी रक्षा कर सके। इस दशा में; पुरुष यदि स्त्री को त्याग भी देता है तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता। ,सवाल यह है कि स्कैंडल बढते देखकर भी अपनी स्त्रियों को घर से बाहर निकाल खड़ी करने का साहस कितने पुरुषों में है ? उनके संस्कार भी वहाँ प्रबल हो उठते हैं। तो यह संस्कार ही ग़लत चीज है। इसे स्त्री पुरुष, दोनों को दूर करना होगा, तभी कल्याण सम्भव है।

शायद मैं ज्यादा कटु हो उठा। विशेष मुझे कुछ नहीं कहना रह गया। मुझे प्रसन्नता है, उपन्यासकार के रूप में हिन्दी-संसार ने मुझे काफ़ी आगे देखा। नए उपन्यास लेखकों में मुझे अग्रणी कहा गया, हिन्दी ससार ने जैनेन्द्र, भगवती प्रसाद बाजपेयी और अज्ञेय के साथ आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ तीन उपन्यास लेखकों में एक मेरा भी नाम लिया। यह बहुत बडा सम्मान है। एक उपन्यास के बल पर इतनी प्रसिद्धि कम ही लोगों को मिल पाती है। चाहूँ तो इस बात को लेकर उचित गर्व कर सकता हूँ। देहली और लखनऊ रेडियो ने भी मुझे आसमान पर चढाया। उनका कृतज्ञ हूँ पर इन सब के होते हुए भी, समझता हूँ कि उपन्यास-लेखन का क ख ग भी मुझे नहीं आता। यह साधना है जो आप लोगों की कृपा से ही संभव है।

रस्म-अदायगी अब रह जाती है। पडित बाजपेयी ने इस पर कुछ लिख दिया है। उनका मुझ पर अगाध स्नेह है और उस स्नेह का नाजायज़ फ़ायदा मैंने उठाया है। उनकी स्नेह-भावना के लिए धन्यवाद देना जरूरी है। उनकी 'कृपा' नही कहूँगा क्योंकि यह मेरा अधिकार था। एक बात और। जब यह उपन्यास छप रहा था, मैं बाहर था। कम्पोजीटर्स कम्पोज करते जाते थे और उनको मुझे देख पाने की प्रबल इच्छा हो रही थी। उन्हें इस उपन्यास के विचार इतने प्रिय

हुए। लौटने पर प्रेस के मालिकों ने मुझे यह बतलाया। मैं अपने उन भाइयों की इस कृपा के लिए कृतज्ञ हूँ, इसलिए और कि वे भी अब नींद से जाग रहे हैं। मजदूर श्रेणी में भी अन्याय के विरुद्ध चेतना हो आई है, तभी इसके विचार उन्हें प्रिय लगे। अपनी इस चेतना के आवेग में ही सम्भवतः उन्होंने कहीं-कहीं कम्पोज़िंग में अर्थ का अनर्थ कर दिया है। उनकी इच्छा--और क्या कहूँ!

बस, अब चीज देखें—आपके हाथ में है!

नन्दन-भवन
५४, जॉर्ज टाउन
प्रयाग।

—लेखक

# सूचना

घटना या पात्र, कोई भी वास्तविक जीवन से नहीं लिए गए हैं। यदि कहीं कुछ छाया दिखे तो यह संयोग की ही बात होगी। लेखक उसके लिए उत्तरदायी नहीं।

—लेखक

# अर्घ्यदान

……प्रज्वलित दीपशिखा ही झलमल करती है, बुझकर तो वह निष्कप हो जाती है। तुम भी अब, उसी तरह, मेरे पास निष्कप हो, स्थिर होगई हो।

……उस दिन रात को तुमने फूलों की माला दी थी न! याद है? वह मेरे पास है। माला के साथ ही उस के पीछे की भावना भी मुझसे लिपटी है।

……तुम पत्थर हो न! यही तुम्हें मैंने कहा भी था। और पत्थर पर, पाषाण-प्रतिमा पर सदा से अर्घ्य चढ़ाया जाता रहा है।

……इसे स्वीकार करो।

सर्वदानन्द वर्मा



## एक

तीन बरस उर्म्मिला को सुसराल आये हो गये है। जो कली थी, अब खिल कर फूल हो गई है। जो तेरह बरस की बालिका थी वह सोलह बरस की युवती हो गई है। जो अङ्ग-प्रत्यग अभी तक अविकसित थे, जिनकी विशेषता से वह स्वय अनभिज्ञ थी वह अब पूर्ण विकसित हो गये हैं, भर गये हैं और उन पर उर्म्मिला को गर्व है।

सुन्दरी होना अपराध नही। सौदर्य पर गर्व होना, अहकार होना अनुचित है। उर्म्मिला सुन्दरी तो थी ही, उसे अपने सौंदर्य पर, रूप पर अभिमान भी बहुत था। किन्तु एक बात की प्रशसा किये बिना हम न रहेंगे। इस रूपाभिमान और सौंदर्य-गर्व ने उसे पति की सेवा सुश्रूषा में कमी न करने दिया। दिन पर दिन वह देवेन्द्र के पास पहुँचती गई, दिन पर दिन देवेन्द्र उसका होता गया।

आज उर्म्मिला अपने आप में नही थी। सवेरे बाहर जाते समय देवेन्द्र ने उसके गालो पर हलकी चपत जडते हुये कह दिया था—ऊर्म्मि! (प्यार से देवेन्द्र उसे ऊर्म्मि ही कहता था) यह ठीक है कि ग़ुलाम देश के अधिवासी अपनेएक मिनट की

कामत नही वता सकते, खासकर वह, जिनके मन मे पराधीनता की आग सुलग रही हो, फिर भी अगर कही भगवान हो तो उनसे मेरी यही कामना है कि अगले जन्म मे तुम भी सुन्दरी स्त्री ही मुझे मिले।

अगले जन्म का नाम देवेन्द्र के मुह से सुनकर एक वार उर्म्मिला कांप उठी थी। यह आज कैसी वातें कर रहे हैं? किन्तु दूसरी ओर अपने रूप की प्रशंसा से वह मन ही मन गर्वित भी हुई थी। दिनभर वह इसी वात को लेकर उधेड़वुन करती रही। आज पति के प्रति उसके हृदय में प्यार का समुद्र उमड़ रहा था। वड़े परिश्रम से, वड़ी साध से उसने फूलो की एक माला गूँथी थी। पति के वापस आने पर वह उनके गले मे डालकर कहेगी—मेरी भी यही इच्छा है कि, अगले जन्म मे तुम सा पति पाऊँ। पर उसकी साध पूरी नहीं हुई। माला के फूल मुरझा गये। रात घनी काली होती गई। आकाश मे वादल घिरते गये, वूँदें जोर से पड़ने लगीं और तभी, इसी आँधी पानी के वीच, भारी वरसाती से अपना दुवला शरीर ढके देवेन्द्र ने घर मे प्रवेश किया। उर्म्मिला दौड पडी, देवेन्द्र के हाथो से वरसाती लेती हुई वोली—इस तरह जी छोड़कर देश का काम भी नहीं हो सकता, समझे? सवेरे से गये हो, खाना पीना भूलकर कितने दिन चलेगा?

देवेन्द्र ने जैसे वहुत थके हुये स्वर मे कहा—पहले एक कप चाय दो ऊर्म्मि! जल्दी करो।

उर्म्मिला को भीतर भेजकर देवेन्द्र ने वरसाती हटाई। कुर्ते पर रक्त के चिन्ह अब भी मौजूद थे, उसे उतार कर अलग कुर्सी पर रख दिया। धोती बदल डाली और चारपाई पर लेट रहा। सभास्थल का दृश्य एक वार उसके नेत्रो के सामने फिर घूमगया। किस तरह अपने कुछ मित्रो के साथ उसने आज की मीटिंग का प्रबन्ध किया था, कुलियो और मजदूरो की श्रेणी के कुछ व्यक्ति किस तरह अपनी शाम की ताडी और गांजे का लोभ छोड़कर वहाँ एकत्र हो गये थे, किस तरह वह वोलने के लिये खड़ा हो गया था, किस तरह पुलिस के कुछ सिपाही आ कर भीड़ को तितर-वितर करने लगे, किस तरह वह वोलता ही गया और किस तरह एक कान्स्टेविल की वेटन उसकी नाक पर भरपूर शक्ति के साथ वैठी, रक्त की धारा··· और फिर? आगे का हाल उसे याद नहीं। इतना ही याद है कि जिनके लिये उसने अपनी परवाह न कर अपना रक्त वहाया वही लाल पगड़ी देख कर चुपके से खिसक गये थे! उसके मुँह से एक कराह निकली··· ·····और·········।

उर्म्मिला चाय का ट्रे लिये खडी थी। आँखें उठा कर उसने देवेन्द्र को देखा! अपने उस वेडौल पत्थर के शिव के लिये उसके मन मे इस समय जाने क्यो स्नेह का महासागर उमड आया। और प्यार की मादक दृष्टि से देखती हुई वोली—उठो, चाय लो। सो क्या रहे हो?

सहमता सा देवेन्द्र उठा, चाय का कप मुँह मे लगाया। सिगरेट ला कर उर्म्मिला ने पास रख दी। तभी उसकी निगाह कुर्सी पर पड़े कुर्ते पर गई। बोली—तुम्हारी यही आदत तो मुझे पसन्द नहीं। जहाँ तहाँ चीजें फेंक देते हो। कुर्ता रखने की यही जगह है? अरे, यह ख़ून!—यह कहाँ से आया?

देवेन्द्र की चोरी पकड़ गई थी। उसने केवल मुस्करा दिया।

उर्म्मिला एकदम पास आ गई, बोली—मैं पूछती। हूँ, यह खून कहाँ से आया?

देवेन्द्र— गुलाम देश में जन्म लेने का यह साधारण सा पुरस्कार है ऊर्म्मि! घबराओ नहीं। तुम्हारे पति ने जो पथ ग्रहण किया है उसमे ऐसी बातें रोज़ हुआ करती हैं। तुम इतने ही से घबरा गई। जिस दिन मेरे कलेजे से बहती हुई रक्त की धारा में स्नान कर सकने का साहस अपने में पैदा कर सकोगी, उसी दिन मेरी स्त्री होने की सच्ची कीमत दे पाओगी।

उसी दिन रात को उर्म्मिला के मांसल शरीर पर हाथ फेरते हुये देवेन्द्र ने कहा—और सुनो ऊर्म्मि! मुझे जल्दी ही जेल भी जाना होगा।

जेल क्यों?

सरकार के खिलाफ बगावत जो मै करता हूँ और अपने बागियों का सर कुचलना वह खूब जानती है। मुझे दुःख है कि मैं [illegible] सुख नहीं पहुँचा सका पर जो रास्ता मैने अपने लिये चुना [illegible] वह बड़ा भयंकर है। तुम उसपर मेरे साथ नहीं चल सकोगी।

तुम केवल घर में घनी रह कर, अगर हो सके तो अपने भगवान से यही प्रार्थना करती रहो कि तुम्हारे देवेन्द्र की देह का कण कण देश के काम आ जाये—देवेन्द्र ने कहा।

उस रात उर्म्मिला फिर सो नहीं सकी। अपने पति को लेकर आज पहली बार जीवन में उसे व्यथा का अनुभव हुआ। एक अनपेक्षित आशंका से उसका मन-प्राण सिहर उठा। घर मे उसके अधिक पैसे नहीं थे, यह सही है, यहाँ आकर भी रानी नहीं बन सकी, यह भी सही है पर एक वस्तु जो उसे यहाँ मिली थी, वह अन्य स्त्रियों के लिये दुर्लभ है। किसी दामो वह अपनी इस स्वर्गीय विभूति को छोड़ने को तैयार नहीं थी। आज उसका पति उससे कह रहा है कि वह उससे विलग हो जायगा। तब वह किसे लेकर अपने माथे के सिंदूर पर नाज करेगी? देवेन्द्र की अनुपस्थिति में विधवा सी साधना उससे बन पायेगी? इतने दिनो तक तो कभी इस बात की आशंका उसे इतने बड़े रूप मे नही हुई। मायके मे, जब उसका विवाह नहीं हुआ था, अपने इसी भावी दाम्पत्य जीवन के सम्बन्ध में उसने कैसे कैसे सुख के रंगीन स्वप्न देखे थे। क्या वह सब इसी तरह एक दिन टूट कर चूर चूर हो जाने के लिये थे? यह वह जानती तो क्या देवेन्द्र के साथ लग्न-बन्धन मे बँधने को वह प्रस्तुत होती? अरे, यह वह क्या सोच रही है? वह कहीं भी होती, देवेन्द्र के साथ उसे खिंच कर आना ही पड़ता। वह उसी की है, एकमात्र उसी की!

देवेन्द्र ने करवट लेते हुये कहा—सुनती हो, मेरी जेब में एक पत्र पड़ा हुआ है। सवेरे जब बाहर निकला तभी डाकिये ने दिया। अनूप आ रहा है, कल सवेरे की गाड़ी से।

उर्म्मिला पत्र लेने ऐसे दौड़ी जैसे उसका समूचा अतीत उसी पत्र मे बन्द हो। दूर, तिपाई पर जलते हुये दिये के पास बैठकर एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा, तीन बार पढ़ा और उतनी सी देर मे असख्य बार पढ़ा। अब, जब पढ़ चुकी तो उसे हाथ मे लेकर निश्चेष्ट हो बैठ रही। उसकी अन्तरात्मा चिल्ला उठी—अब यह फिर क्यो आ रहा है? बड़ी कठिनाई से, बड़े यत्न से तो किसी तरह भूल पाई थी, अब यह फिर आग लगाने क्यो आ रहा है? जी मे आया, कह दे कि किसी तरह रोक दो, आने की आवश्यकता नहीं, पर यह जो पति है, वह तो जैसे इतना कहकर निश्चिन्त होकर सो रहे, जैसे उनका कार्य समाप्त हो गया। जैसे यह उनके लिये कोई बड़ी बात नहीं। अब वह क्या करे? उसे अपने ऊपर भय हुआ। एकान्त मे, यहाँ अनूप का सामीप्य पाकर कहीं वह विचलित न हो उठे! उसकी इतने दिनो की तपस्या, सयम बाँध तोड़कर बह न निकले! उसने पति की ओर देखा! उसके हृदय मे भीषण क्रान्ति मची होने पर भी वह कितनी शान्ति से सो रहे हैं। नहीं जानते कि पल भर मे ही वह उनकी समूची शान्ति हर ले सकती है, उनके मुख पर कालिख पोत सकती है और उनका जीवन दूभर कर सकती है! काश, इस समय तुम उर्म्मिला को पढ पाते मेरे

स्वामी! तुम देखते कि उसकी हर सांस से उसका भूला हुआ अतीत आग की लपट बन कर निकल रहा है! तुम उसके देवता हो, पूजा करना उसका धर्म होना चाहिये किन्तु वह तो सब कुछ भूलकर इस समय तुमसे दूर वही जा रही है!

पर नही, उसे अपने को रोकना होगा। जो बीत चुकी है उसे बीती ही रहने देना होगा। कभी, कही एक पल के लिये जीवन के निर्धारित पथ पर चलते चलते उसे एक और दुखिया, अकेला राहगीर मिल गया था, तो क्या उसे ही जीवन मे इतना बडा बना कर देखना होगा? उस अनजाने के आंसू पोछने के लिए इतनी विकल वह क्यो हो? दुनिया में बहुत से दुखी, अकेले व्यक्ति पडे हुये हैं, क्षण भर उनका मनबहलाव कर देने की चेष्टा जीवन्त बन्धन बनकर उसके चारो ओर क्यो लिपटी रहे?

तभी उसे अपने इस टूटे से, छोटे, कच्चे घर का ध्यान आया। कहने को तो मकान है पर कायदे का एक कमरा भी नही। कोई आ जाय तो सोने भर की भी जगह नहीं। यही हो सकता है कि देवेन्द्र उसे लेकर बाहरी कमरे मे पड़ रहे और उर्म्मिला रसोई घर मे चूल्हे के पास पडी रात काट दे। वह उठकर मुख पर कृत्रिम भाव ला, देवेन्द्र के पास आई, कहा—भई, आवें तो अनूप भले ही, उनका घर है। पर मैं तो यही सोचने लगी हूँ कि आयेगे तो रहेंगे कहां? ले देकर एक तो कमरा है ठिकाने का। वह कहां सोयेंगे? उस दरबे में उनसे सोया जायगा!

देवेन्द्र इस समय आंखें बन्द किये कुछ सोच रहा था, कुछ सुना, कुछ नहीं सुना। कहा—अरे, तो कौन उसे दस पाच दिन रहना है? मुश्किल से एक दिन तो रहेगा ही। हम लोगों के साथ ही पड़ रहेगा।

उर्म्मिला—उसी कमरे मे?

देवेन्द्र—हाँ, हाँ।

उर्म्मिला जैसे कटकित हो गई। एक कमरे मे, पति के साथ कसी अन्य पुरुष के सामने वह कैसे सो सकेगी? उसे अपनी दीनता पर क्षोभ हुआ। आज दीनता के कारण एक अतिथि को घर मे ठहराने से भी वह विवश है! नारीत्व की वह भूख, जो तृप्ति और सतोष और सम्पन्नता ढूँढ़ती है, आज चोट खाकर, तिलमिला कर जाग उठी और उसके मुँह पर एक अजीव बेवसी व्याप्त हो गई। अभाव आत्मविस्मृत होता है लेकिन तनिक सी ठेस से ही वह भयकर मुख फाड़कर सामने आ खडा होता है।

देवेन्द्र उर्म्मिला की व्यथा समझ गया। उसकी आँखो से उर्म्मिला का यह दर्द छिपा न रहा। उर्म्मिला उसकी पत्नी है और आज भी उसकी वेदना का कारण वह स्वय है, यह वह समझ गया। गम्भीर होकर बोला—ऊर्म्मि! अनूप घर का आदमी है। वह हमे जानता है और हमारी दयनीय परिस्थिति से अनवगत ा है। वह जानता है, हमारी परिस्थिति ऐसी नहीं कि हम ...ल खड़े कर सकें। फिर यह तो सोचो, जहाँ हजारो-लाखो

व्यक्ति सड़कों पर पड़े रातें व्यतीत करते हो वहाँ हमारी यह कुटी तो किसी राजप्रासाद से कम नहीं ! भेद बाहर वालों से छिपाया जाता है, अपनों से नहीं। अपनों से छिपाया हुआ भेद स्वयं को खाता, चुकाता रहता है। तुम चिन्ता न करो, हमारी दशा से उसके मन में ज़रा भी मैल न आयेगी। मैं उसे जानता हूँ और समझता हूँ कि मुझसे अधिक तुम उसे जानती हो। यह केवल तुम्हारी सहज संस्कारी लज्जा है जो तुम्हें इस समय चिंतित बना रही है।

प्रश्न पर अधिक विवेचन या वाद-विवाद इस समय व्यर्थ है, यह उर्म्मिला भी समझती थी। व्यर्थ के चिन्तन से इस समय घर में स्थान की वृद्धि न होगी। बोली—तो तुम स्टेशन चले जाना। मकान उनका देखा नहीं है, आयेंगे कैसे ?

दूसरे दिन सुबह तड़के ही उठकर देवेन्द्र स्टेशन जाने को तैयार हो गया। जब कपड़े पहन कर बाहर निकलने लगा तो उर्म्मिला ने देखा। बोली—तो आप चले ?

देवेन्द्र—हाँ, और क्या ?

उर्म्मिला—जेब में कुछ पैसे भी हैं या यों ही ?

अब देवेन्द्र को ख्याल आया कि स्टेशन पर प्लैटफार्म टिकट भी लेना होगा, घर लौटने और जाने के लिये सवारी के पैसे भी चाहिये। शर्मा कर जेबों में खोजते हुये बोला—तो लाओ न, देर हो रही है।

अपने अन्यमनस्क पति पर उर्म्मिला एक बार खीझ उठी फिर भीतर से कुछ पैसे लाई और देवेन्द्र के हाथ पर रखती हुई बोली—देखो, उन्हें न खर्च करने देना।

पर हुआ यही कि स्टेशन छान डालने पर भी देवेन्द्र को अनूप नहीं मिला। देवेन्द्र को स्टेशन पहुँचने में तीन चार मिनट की देर हो गई। अनूप उतरा और देवेन्द्र को न देखकर मन ही मन खुश हुआ। वह रास्ते भर सोचता आया था कि वह उनके यहाँ न ठहरेगा। खत भेज चुकने के बाद उसने सोचा कि यह ठीक नहीं है। उसे देवेन्द्र की दयनीय दशा मालूम थी। अपना भार और बढ़ाना नहीं चाहता था। गाड़ी से उतरते ही उसने अपना सामान कुली के सिर पर उठवाया और स्टेशन के बाहर निकल गया।

देवेन्द्र घबराया, क्या अनूप नहीं आया! आता तो इतनी जल्दी कहाँ चला जाता, कम से कम मेरी राह तो देखता! शायद नहीं आया! खिन्न मन में वह घर की ओर चला, उधर अनूप अपने एक मित्र के यहाँ पहुँचा। वहाँ, नहा खाकर, देवेन्द्र के मुहल्ले का पता पूछकर, उससे मिलने चला।

इधर देवेन्द्र उर्म्मिला से कह रहा था—क्या जाने क्यों नहीं आया!

उर्म्मिला—क्या जाने क्या, तुमने स्टेशन पहुँचने में देर कर दी। आये होंगे, तुम्हें न देख कर कहीं और चले गये होंगे। मेरा जी कहता है, आये होंगे जरूर, देख लेना।

देवेन्द्र—अरे, तो मेरे पहुँचने के दो ही मिनट पहले तो गाड़ी आई थी। इतनी सी देर मे आया भी और हवाईजहाज पर चढ़ कर चला भी गया ! क्या बात करती हो ?

उर्म्मिला की आँखें ऊपर उठी। सामने मुस्कराता हुआ अनूप खड़ा था ! उर्म्मिला ने देखा, एक अनाकर्षक, फिर भी लापरवाही के कारण आकर्षक बना हुआ मुख, बाल अस्तव्यस्त, शरीर पर केवल एक सफेद कुर्ता और पाजामा, पांवो मे ग्रीशियन। हाथ दोनो नमस्कार के लिये जुड़े हुये। वह बोल उठी—देखो, मैं कहती न थी कि जरूर आये होंगे।

अब देवेन्द्र ने भी घूम कर देखा। अनूप उसे भी नमस्कार कर उसी चारपाई पर बैठ गया। देवेन्द्र के मुख पर कुछ ऐसा भाव आया जैसे भिखारी के घर भगवान आये हो, उसका रोम-रोम खिला हुआ था। हँस कर बोला—वाह, मैं तो स्टेशन पर ढूँढ़ते ढूँढ़ते थक गया। तुम आये कैसे ?

अनूप सब बतला गया। केवल इस बात को किसी तरह छिपा गया कि उन पर भार और न बढाने की नीयत से ही वह मित्र के यहाँ, फिलहाल, ठहर गया है। उर्म्मिला ने इसे अपना अपमान समझा कि उसके रहते अनूप आकर कही और ठहरे ! कुछ अनमनी सी होकर बोली—क्या यह घर न था जो तुम्हें मित्र के यहाँ ठहरने की जरूरत पडी ? तुम हमे गैर समझते हो ! जान तो ऐसा ही पडता है !

अनूप बात काट कर बोला—ओह, नहीं नहीं, यह बात नहीं थी। बात केवल यह थी कि... .

उर्म्मिला—कि तुम यहां नहीं ठहरना चाहते थे, यही न?

देवेन्द्र—अरे, तो उसे भी तो कहने दो।

अनूप—बात केवल यह थी कि स्टेशन पर उतरते ही वह मित्र मिल गये और जबर्दस्ती अपने साथ पकड़ ले गये। मैं नाहीं नहीं कर सका।

यह छोटा सा झूठ बोलकर अनूप ने उर्म्मिला के मन से अपमान की भावना निकाल देनी चाही पर वह यह नहीं देख सका कि इतने दिनों की स्नेह-भावना जो पुञ्जीभूत होकर उर्म्मिला के मन में दुबकी बैठी थी, उस पर कितनी बड़ी चोट इस बात से लगी है! अपनी भर्त्सना से वह आप ही मरी जाने लगी। किन्तु इस समय यह सब सोचने का मौका नहीं था, यह तो जीवन भर सोचना ही है। बोली—चलो, खाना खालो।

अनूप—खाना तो मैं उन्हीं मित्र के यहाँ खा आया हूँ।

यह उर्म्मिला के कोमल हृदय पर दूसरा आघात था। अब वह अपने को विचलित होने से नहीं रोक सकी। वहाँ से उठी और कहती गई—अच्छा ही है। तुम चलो खालो।

देवेन्द्र अनूप को बैठने कह कर खाने चला गया।

---

## दो

नारी के सौंदर्य और यौवन का क्रय विक्रय, इसी तरह अबाध गति से दुनिया में होता आया है भैया और जब तक दुनिया है, होता रहेगा। एक तुम्हारे न रहने से विवाह न रुक सकेगा।

वही तो। वही तो मैं कह रहा हूँ प्रभा! एक मेरे न रहने से यह विवाह नही रुक सकेगा।--अनूप ने कहा और उदास, अनमने मन से उठकर खिड़की के पास जा खड़ा हुआ।

तो फिर, जब तुम्हारे रहने और न रहने में कोई अन्तर नही तब तुम रहो।

यह तुम क्या कह रही हो प्रभा! अन्तर कैसे नहीं है? अन्तर है।

पत[illegible]स?

[illegible] पकाये मांस और गाय के गले पर छुरी चलते देखने में [illegible] अन्तर है, वही। एक शव और मरणासन्न को दारुण य[illegible] तड़पते देखने मे जो अन्तर है, वही। याद है, उस दि[illegible] मे टहलते समय जब वह गुलाब का फूल मैंने पावों से [illegible] दिया था, तुम्हारी आँखों में आँसू छलछला आये थे।

मैंने इसे अतिशय भावुकता कह कर, हँसकर टाल दिया था किन्तु उन आँसुओं के पीछे से झांकते हुये तुम्हारे कुसुम–कोमल हृदय की भाषा भी पढ़ ली थी। आज तुम्हारे वह आँसू एक सजीव फूल के मसले जाने के समय कहां सूख गये प्रभा? तुम तो स्त्री हो! एक युवती के हृदय की पहिचान तुम्हे अधिक होनी चाहिये। छिः, तुमसे मुझे ऐसी आशा नही थी।––कहते कहते अनूप का चेहरा लाल हो आया।

प्रभा उलझन में थी। घर मे जो अवांछनीय काड होने जा रहा है, उसे यदि रोक सकती तो उस जैसा सुखी और प्रसन्न और कौन होता। किन्तु जब अपनी सारी चेष्टाओं के बावजूद भी वह असफल हो रही है तब वह क्या करे? कितना बडा झूठ लांछन है अनूप का कि वह नारी हृदय, युवती का दर्द नहीं पहचानती। पहचानती है, और तभी विवाह वेदी पर बलि चढ़ाई जाने वाली उस युवती की मनोदशा पर, कितनी ही रातो मे आठ आठ आँसू रोकर उसने अपने तकिये तर किये हैं। अनूप पुरुष है, वह खुलकर विरोध कर सकता है, पर प्रभा तो स्त्री है न! रो लेने के अतिरिक्त उसके पास अपना दुःख प्रक[illegible] उठी न दा और साधन ही क्या है? और पिताजी को वह [illegible] रहे! उनकी इतनी आयु है कि वह समझें, कुमारी प्रभा को [illegible] ई जरूरत उनके अपने विवाह मे अधिक है। और यथा [illegible] क्यों? विलासवृत्ति की परितृप्ति की अपेक्षा पाव[illegible] परिपूर्ण बनाने के लिये विवाह अधिक श्रेयस्कर प्रत[illegible]

बेटी के अपूर्ण, अतृप्त हृदय को मसल कर उसकी प्यासी आँखो के सामने ही अपनी सुहागरात मनाने में क्या पिता की आत्मा तनिक भी कुंठित न होगी? लेकिन कुंठित हो या न हो, जो होना है वह तो, जान पड़ता है, होकर ही रहेगा। तब अनूप को तो उसे मनाना ही है। सारा परिवार उसे सीधा नहीं कर पाया है, अब प्रभा के अतिरिक्त उसे कौन मना सकता है! ससार की बात वह ठुकरा दे सकता है, केवल प्रभा ही ऐसी है जिसके आगे अनूप की समस्त उच्छृङ्खल प्रवृत्तियाँ, समस्त विरोधी भावनायें माथा झुका देती हैं।

भैया, तुम उनके पुत्र हो। पिता की सम्मान-रक्षा तुम्हारा पहला कर्तव्य है।—प्रभा ने अनूप के पास जाकर कहा;

कर्तव्य! सम्मान-रक्षा! प्रभा, वे भी तो पिता हैं। उनका कुछ कर्त्तव्य है या नही? या, एक निरपराध युवती का खून कर डालने तक ही उनका कर्तव्य सीमित है? सोचो तो, तुम हो, मैं हूँ, ऐसी दशा मे सन्तानप्राप्ति के लिये यह विवाह हो रहा है, यह बहाना भी नही चल सकता। यह भी नही कि वह अपने दाम्पत्य जीवन से कभी असतुष्ट रहे हो। केवल अपने विलास की तृप्ति के ही लिये पिता जी यह अन्याय कर रहे हैं। उस बिचारी युवती की बात सोचो। जिसे पिता कहना चाहिये उसे ही पति कहने को वह बाध्य होगी, इसलिये कि किसी तरह पकड़ कर उसके स्वार्थी माता पिता ने, समाज ने, उसके माथे बरबस रक्त का टीका, सिंदूर चढ़वा दिया है। और तुम ही

उसे मां कह सकोगी ? जो तुम्हारी ही आयु की है, तुम्हारी सखी हो सकती है, मित्र हो सकती है, वही क्या मां इसलिए ही हो जायगी कि हम लोगो के पूज्यपाद पिता जी ने विवाह के नाम पर उसका सर्वनाश किया है ? उसकी लहलहाती आशाओ पर वज्र गिरा दिया है ? प्रेम और प्यार, यौवन की निर्बन्ध तृष्णा का प्यासा और मनोनुकूल समवयस्क साथी के सामीप्य का भूखा उसका हृदय क्या हमारे माँ-माँ पुकारने से शान्ति पायेगा ? नारीत्व के इस दुःसह अपमान से, स्त्रीत्व और यौवन की इस हत्या से उसका हृदय फटकर टुकड़े टुकडे हो जायगा प्रभा। और इसकी जिम्मेदारी पिताजी के साथ हम पर भी कम न होगी। अन्याय में सहयोग देने वाले का भार अन्याय करने वाले से ज्यादा होता है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ पर तुम्हारे कहने से भी उस भूखी प्यासी अतृप्त-काम युवती को माँ पुकारना मेरे लिये सम्भव न होगा। तुम इसके लिये मुझसे मत कहो।—अनूप ने दृढ़ शब्दों में कहा।

तुम उसे मां न कहना। मेरा कहना खाली यही है कि तुम विवाह में योग न दो तो अड़चन भी न डालो। इससे पिताजी का हृदय दुखेगा। तुम केवल शरीक हो जाओ लेकिन तमाशबीन की तरह।—प्रभा ने कहा।

अनूप चुप बैठा रहा। हृदय में द्वंद्व मचा हुआ था। एक ओर अन्याय के विरोध में उसका रोम-रोम जल रहा था, दूसरी ओर पिता से वैमनस्य मोल लेना था। वह क्या करे

यदि वह विवाह में योग देता है तो अपने हृदय की बात अनसुनी करता है, जो बहुत बडा पाप और आत्मसम्मान-विरोधी कृत्य होगा। पाप पुण्य वह नही मानता पर, जान पडता है, ऐसे ही मानवता-हीन कृत्य,पाप कहे जाते हैं। किसी दिन भी सर्वांत-करण की श्रद्धा के साथ उसने भगवान के सामने माथा नहीं नवाया, पर अगर कहीं वह हो तो शायद इस विवाह के लग्न-मण्डप मे ही आकाश से आग वरसने लगे। यदि अनूप बिलकुल तटस्थ रहता है तो जन्म-भर के लिये पिता की दृष्टि से गिर जाता है। रहना उसे पिता के साथ है। कम से कम, रहना चाहिये यह वह मानता है पर अपनी आत्मा का गला मरोड़कर, कुत्त की तरह दो टुकड़े रोटी के लिये न्याय, अन्याय, अत्याचार सब कुछ सिर झुका कर वहन करना क्या उसे शोभा देता है? एक ओर पिता का अनुशासन है, उनकी आज्ञा का पालन है, उनके पद की मर्यादा-रक्षा का प्रश्न है, उनके प्रति अपने कर्तव्य का ध्यान है, स्वय अपने लिये भविष्य की चिन्ता है, दूसरी ओर एक अज्ञात, अपरिचित व्यक्ति के कुचले हुये हृदय की पुकार है, उसके भग्न अरमानों का हाहाकार है, उसकी लुटी हुई आशा अभिलाषाओं का संसार है और अलक्षित आँसुओं का पारावार है। वह किस ओर जाय? किसकी पुकार सुने? किसका सम्मान करे? अपने अन्त करण का या पिता का?

तभी प्रभा के शब्द उसके कान मे पडे—शरीक हो जाओ लेकिन तमाशबीन की तरह वह उबल पडा—क्या कहा? शरीक

हो जाऊ लेकिन तमाशबीन की तरह? खूब कहा? किसी घर मे जब आग लग जाती है और उसके असहाय, निरवलत्र अधिवासी जब चीख चिल्लाकर वचने के लिये इधर उधर भागने लगते हैं, तव उस दृश्य को देखने का साहस भी मुझ में नहीं है और लोभ भी नहीं है। चुपचाप हाथ पर हाथ धरे उस तमाशे को देखते रहना मानवता और सहृदयता की हत्या है प्रभा! यह तमाशा मैं नही देख सकूंगा।

प्रभा चुप हो रही। अनूप सोच रहा था—लेकिन वह अपरिचित व्यक्ति एक नारी है, युवती है। उसकी बीस-इक्कीस वर्ष की उन्मादिनी आयु की पुकार के आगे पिता की पेतालिस–पचास, वल्कि इससे भी अधिक जर्जर आयु की पुकार दवती सी क्यों जा रही है? पिता के पद का दृढ़ दुर्ग एक कोमल कठ की, हृदय की आह से ढहा सा क्यो पड़ रहा है? उसने तो अपनी आँखो एक नहीं अनेको वार देखा है कि श्वसुरपुर मे आते ही जवान, योग्य, सुन्दरी, शिक्षिता तितलियाँ भी वृढ़े, नालायक, यमराज और मूर्ख भौंरो के हाथ आत्मसमर्पण कर देती हैं, अपना अह पर मे लयकर सुखी, परितृप्त हो वैठ रहती हैं। यही उनके सतीत्व का चरम आदर्श हैं, यही उनकी मातृत्व की साधना है, नारीत्व की तपस्या है! पुरुष ही ऐसा समझता हो, यह वात नहीं, वह स्वय इसी को मंगल मानती हैं, शिव और सत्य मानती हैं।

मशीन की तरह बच्चे वह देती हैं, पति की पाँव-पूजा कर यमपुर दुख नाना से त्राण पाती हैं, घर, धन, यश और सबसे बढ़कर सतीत्व और पत्नीत्व की लुभावनी माया में भूलकर अपना इह-जीवन सार्थक वह कर जाती हैं। लोग, पास पड़ोस के कहते नही अघाते—देवी थी वह! ऐसी पतिव्रता, ऐसी धर्म-शीला पत्नी मिलनी कठिन है। अमुक का भाग्य बली था!

तो, अपनी कैद से वन्दी स्वयं ही मुक्त होना न चाहे तो जेल के और लोग क्यों व्यस्त हों? विवाह के नाम पर गुड़िये के खेल से आयु पाने पर भी यदि स्त्री स्वयं दूर होना न पसन्द करे तो दुनिया क्यों अपनी नींद हराम करे? व्यभिचार, बला-त्कार, हाँ, हाँ, वही व्यभिचार और बलात्कार जो मन्त्रों के बल पर, ईश्वर को साक्षी करके, दुनिया का सबसे बड़ा पतित और नारकीय, घृणित कीडा, जिसे लोग 'पति' कहते हैं, अपनी पत्नी के साथ करता है, जिसमें हृदय का योग नही, मन का सौदा नही, प्राण की एकात्मता नहीं। वही व्यभिचार और बलात्कार, जिसे दुनिया की सबसे किन्तु निकृष्ट, सहचरी कोमल किन्तु चरम कायर और इसीलिये अपदस्थ नारी अपने ऊपर बर्दाश्त करती है, जिसमें केवल दिखावा है, धोखा है, छल है! इन सब उलटी पुलटी, स्वार्थमयी और कायरता से ओत-प्रोत नीतियों को, जिन्हें इतने दिनो से हम तथाकथित आध्यात्मि-कता और आदर्शवादिता कहने के आदी हो गये हैं, उनसे जब हम स्वय ही मुक्त होना नही चाहते, तब इकले दुकले

आदमी के हाथ पाँव तुडाने से क्या लाभ संभव है ? पिता के प्रति वह उत्तरदायी है, उन्होने उसे जन्म दिया है। इतने दिनो तक पालन पोषण किया है। एक अब तक की छिपी सी, दबी सी अनजान युवती को उसे अपने जीवन मे उभारकर व्यस्त नहीं होना होगा। वह आये, जैसे सब आती हैं। दुनिया का काम चले, जैसे चलता है। उसे अभी बहुत काम करने हैं। वह क्यो अपने मन में इस अनूतन बात को लेकर उथल पुथल होने दे ? वह भी, और लोगो की तरह तब, व्याह मे योग देगा।

तभी प्रभा ने फिर टोक दिया। भैया—उसने कहा,—और यह भी तो सोचो, अगर सभी पिता का विरोध इसी तरह करने लगें तब क्या हो ? वह पिता है, बडे हैं, पूज्य हैं, जो काम करेंगे उसे उचित समझकर हमे मानना ही चाहिये। यही सामाजिक शृंखला है और इसे बनाये रखना ही होगा।

आग बुझती रहती है, एक बूँद घी पड जाने से फिर धधक उठती है। अनूप बुझ गया था, तर्क से हार कर उसने समाज और अनुशासन के आगे अपने मन के हथियार डाल दिये थे। प्रभा की सामाजिक शृंखला ने उसे फिर से लहक उठने का अवसर दिया। समाज की शृंखला—अनूप ने कहा—बनाये रखने के लिये मनुष्य को बरबस दूसरे की हत्या करनी होगी ? जो नहीं है वह मानना होगा और जो है उसे अपने से दूर, समाज की मर्यादा के

नाम पर, रखना होगा ? सोचो तो, तुम मेरी बहन हो, सोलहो आना मेरी। तभी तो चार के बीच, गर्व से सर उठाकर कह सकती हो—यह मेरे भाई हैं। लेकिन तुम यदि मेरी बहन न होती तब भी मर्यादा के नाम पर, केवल अनुशासन के नाम पर और लोकलाज के नाम पर क्या मुझे गर्व से तुम भाई कह पाती ? यदि कहतीं भी तो क्या वह हृदय के विरोध से भीगा हुआ न होता ? और, मा बहन का नाता दिखावे की नींव पर स्थित नही है प्रभा, वह तो ससार की महत्तम, पवित्रतम और जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर हो सकता है, उस पर टिका हुआ है। माता भी अपनी होनी चाहिये। खरीदी और दान मे मिली हुई नारी को मा और बहन नही बनाया जा सकता, और चाहे जो कुछ हो। मैंने उस नवागन्तुका को देखा नही, पर इतना तो कह ही सकता हूँ कि पिताजी की दुर्बल, जर्जर हड्डियो में उसे अपने नारीत्व की सार्थकता न मिलेगी। अपने यौवन का, अपने स्त्रीत्व का, हृदय की गोप्यतम निधि, प्राय. अलक्षित भावना मातृत्व का सम्मान उनके कृत्रिम व्यवहार और प्रेमप्रदर्शन में उसे न प्राप्त होगा। अगर पिताजी को इस आयु में एक साथी, एक सहचर की आवश्यकता हो सकती है तो उसे, जीवन के वसन्त मे, भावनाओं की अल्हड़ स्वाभाविक वायु-लहरियो में डोलती हुई लता को, उससे भी अधिक आवश्यकता एक मनचाहे आधार की हो सकती है। मुझे भय है प्रभा, कि...

प्रभा चौंक सी पड़ी। बात सुदूर भविष्य की नही, निकट वर्तमान का भयावना रूप ले रही थी। जो बात अनूप के भय का कारण थी, यह बात नही कि प्रभा अच्छी तरह उसे देख न पाती हो। वह तो उसे अनूप से भी अधिक जानती है। युवती के मन-प्राण को छूती हुई एक जो अमन्द, निरन्तर रस-धारा सर्वथा स्वाभाविक रूप मे प्रवाहित होती रहती है, उसका पता उसे पुरुष अनूप की अपेक्षा अधिक है। नवागन्तुका वधू के जीवन मे कभी, किसी दिन, किसी छिद्र से यह सर्वथा स्वाभाविक रसधारा प्रवाहित हो पड़ेगी, यह सच है कि यह निश्चित रूप से कहा नही जा सकता किन्तु यह भी तो नही कहते बनता कि युवती का कोमल, अनुभूतिमय हृदय अपने को शरीर और मन की उचित पुकारो की ओर से बन्द कर लेगा, केवल इसलिये कि दुनिया अब उससे ऐसी आशा नही करती। निरन्तर तिल-तिल कर मिटते जाने की यह तपस्या, यह साधना एक युवती से न हो सके तो क्या उसे दोष दिया जा सकेगा? लेकिन, बातें ऐसा रूप ले रही थीं जिससे भय था, प्रभा अपने इस समय के कर्तव्य से च्युत न हो जाय। वह आई थी अनूप को विवाह मे योग देने को प्रस्तुत करने किन्तु अनूप के तर्क उसे कहीं और बहाये लिये जा रहे हैं इस समय यदि वह विचलित हो गई तो अनूप तो तुला ही बैठा है। समस्या का समाधान होना तो दूर, उलझन और भी बढ़ जायगी। यह सब सोचकर वह बोली—भैया, तुमसे तर्क में

नहीं कर सकती। सम्भव है, तुम्हारा इशारा सही हो लेकिन उसे सोचकर अभी से बखेड़ा उठाना क्या सही होगा ? यह सब बातें भविष्य की हैं, उन्हे क्यो अभी से इतनी बडी बनाकर देखते हो ? फिर, एक बात और भी तो है। कौन जाने, नई माँ यहाँ आकर इस घर मे रम जाँय। उन्हे कोई सोच विचार न रह जाय।

हां, ठीक है। पिजरे मे बन्द पंछी को देखकर सब ही यही सोचते हैं कि सुन्दर पिजरे मे समय पर दाना खाकर वह एकदम सतुष्ट हो गया है। उसे कोई सोच विचार नही रह गया है। पर यदि वह पछी बोल पाता, लोग उसके मन की बात समझते तो खून आँखो से टपक पडता। खैर, लेकिन प्रभा, यह भी न भूलो कि इसी वर्तमान के ऊपर वह भयकर भविष्य निर्मित होगा। आज के वाद्ययत्रो की मधुरध्वनि, खान पान, संगीत और विवाह के मडप के पीछे से जो सर्व-नाशी काला भविष्य झाँक रहा है, उसे एकदम भूलकर बैठने से कैसे चल सकता है ? मैं उसे स्पष्ट देख रहा हूँ। देख रहा हू कि जैसे एक आधी आ रही है जिसमे सब कुछ उलट पुलट जायगा। सब कुछ प्रभा !—अनूप ने कहा।

थोडी देर शान्ति रही, फिर अनूप ने कहा—ना प्रभा। यह मुझसे न होगा। जिस दिन तुम्हारी नई मा इस घर में आवेंगी उसी दिन मैं सब कुछ छोडछाड कर चल दू गा।

प्रभा ने केवल एक वार हँस दिया, मानो वह जानती है कि अनूप किस धातु का बना है। उसने केवल इतना ही कहा–क्या भौजी को भी छोड़ कर चल दोगे ? कहाँ ?

अनूप द्वार तक पहुँच गया था, मुड़ कर एक वार प्रभा की ओर गहरी दृष्टि से देखा और वाहर निकल गया।

और तब हुआ यह कि अतिथि अभ्यागत और वाजेगाजे की धूमधाम के साथ विवाह हो गया और सदाशिव अपने लिये नई पत्नी और अनूप और प्रभा के लिये नई माँ ले आये। आज सुहागरात है।

सुहागरात, जो युवक युवती के जीवन की प्रथम पुलक रात्रि है। जो अपने मधुर कोमल करो स उनके भविष्य जीवन की रहस्यमयी घड़ियो पर से पर्दा हटा देती है और उनके मन-प्राण को, उनके शरीर को, उनकी भावनाओ को, उनके सुख दुःख आकाक्षाओ को सदा के लिये एक कर देती है। जो उनके पूंजीभूत तपस्या, निष्ठा, साधना का फल है और जिसकी प्रतीक्षा मे वह धड़कते हुये हृदय से वर्ष पर वर्ष व्यतीत कर देते हे। इसी रात मे पत्नी के हृदयपटल पर पति का और पति के मानस मे पत्नी का एक चित्र खिच जाता है, जो जीवन भर अमिट रहता है।

शहनाई के स्वरो मे वाहर सुहाग का मारग खेल रहा था, नई वहू के घूंघट मे दो चचल अल्हड़ आँखें खेल रही थी, और घर आँगन में, व्याह में आई हुई, रग विरगी साड़ियो में

तितली जैसी लड़कियां और युवतियां खेल रही थीं। घर के स्वामी की आज सुहागरात है, घर आनन्द की पहिया में शत मुखी धारा में बहा जा रहा है।

धीरे-धीरे वाद्य कोलाहल थमा। धीरे-धीरे कंठों की कलकल रागिनी थमी। धीरे-धीरे रात गाढ़ी काली होती गई और धीरे-धीरे सदाशिव ने कमरे का पर्दा हटा कर भीतर प्रवेश किया। युवती के नतमुख के दोनों भीत, चकित, थकित नयन खेलना भूलकर धीरे-धीरे धरती पर गड़ गये। पति आया है, उसे प्रसन्न करना ही स्त्री का कर्तव्य है! युवती लाज से गड़ गई। पति हो, चाहे जो हो, हैं तो अभी अनजान ही। इनसे वह कैसे पर्दा दूर कर सकती है? उसके जाने पहचाने किसी भी व्यक्ति से तो इनका साहश्य नहीं। बाप, भाई, चाचा, किसी से तो इनका मेल नहीं। जैसे सब नाते रिश्तों की दीवार लांघकर यह उसके जीवन की अमराई में प्रविष्ट हुये हैं, इन्हें वह कहां रखे? मायके में उसने सुना था, इनके जवान बेटा है, बेटी है, करीब-करीब उसके ही उम्र के। वह दिखलाई नहीं पड़े या वह उन्हे पहचान नही सकी, यह सच है, फिर भी हैं तो! इन्हे जरूरत क्या थी ब्याह की!

अनुभवी सदाशिव ने ही मौन तोड़ा—देखो, यह घर तुम्हारा है, यहां ऐसा कोई भी नहीं जिससे तुम्हें पर्दे की जरूरत हो। यह घूंघट दूर करो। अनूप है, सो पागल है। बेटी प्रभा तुम्हें यहां का सब समझा देगी।

सोलह साल की लजवन्ती लता सी युवती और भी घूंघट में सिमट गई। एक रंगीन आभा उसके गुलाबी गालों पर आई, तुरन्त ही चली गई।

और हां, तुम्हारा नाम क्या है? सदाशिव ने जानना चाहा।

घर से चलते समय, और सीखों के साथ माँ ने यह भी सिखाया था कि पति से ज्यादा मान मत करना। युवती की सारी लज्जा और सारे संकोच को दूर ठेलकर माँ की यही सीख उभर आई। ज्योति—उसने धीरे से कहा।

तो देखो ज्योति, नाम मैं तुम्हारा जानता था। केवल तुम्हारे मुँह से सुनना चाहता था। अरे, तुम वहां क्यों बैठी हो? यहां आ जाओ, यहाँ।—कहकर सदाशिव बिछौने पर जरा सरक गये।

लेकिन ज्योति हिल न सकी। किसी अनजान पुरुष के साथ एक बिछावन पर, अकेले कमरे में बैठने का उसे अभ्यास नहीं था। उसने अपने को कितना ही समझाया कि यह पति है। इनसे लज्जा वह नहीं करेगी। यह जो कहे वही मानना उसका एकान्त कर्तव्य है। एक बिछावन पर, इसी तरह अकेले कमरे में रहने के लिये ही तो उसे उसके पिता माता ने इतनी धूम-धाम के साथ यहां भेज दिया है! पर संस्कारों ने उसे अपने स्थान से हिलने नहीं दिया। लाचार, सदाशिव को स्वयं उठना पड़ा। ज्योति का हाथ पकड़ कर उन्होंने उठाया। स्पन्दनहीन, वृन्तच्युत कलिका की भाँति वह आकर पलंग पर बैठ गई।

एक बात यहाँ कह दें। सदाशिव मे हृदय का सर्वथा अभाव नही था। व्याह मे, यह सच है कि, उन्होने शारीरिक भूख को ही, शारीरिक वासना की तृप्ति को ही मुख्य रक्खा था, किन्तु अनूप के विरोध ने उन्हे यह दबे दबे समझा दिया था कि उनका यह कृत्य अन्याय भी हो सकता है। आज ज्योति को यों एकान्त मे पाकर, आश्चर्य है कि, उनका यही भाव ऊपर आ गया। उन्होने देखा, यह राजरानी यहाँ सोहती नही। इस रूप-प्रतिमा का पुजारी और चाहे जो हो, वह इसकी पूजा का अधिकार लें तो उन्हे पाप लगेगा। उनके जर्जर हाड़ो मे इस रूपसी का शृंगार करने की सामर्थ्य नही है। गुलाब का सुन्दर लाल फूल हरी हरी पत्तियो से लहलहाती डाल पर ही शोभा देता है, पतझड के झडे हुये, सूखी डाल पर तो उसका सारा माधुर्य मारा जाता है।

ज्योति—सदाशिव बोल उठे—यह मैने अच्छा नही किया। जानती हो, तुमसे विवाह करना रोकने के लिये स्वय मेरा लडका अनूप ही मुझसे रूठ बैठा। अपनी माँ का चरण छूने तक नहीं आया। नहीं आया था न? मैं जानता हूँ, वह न आयेगा। बडा हठी है। प्रभा—मेरी बेटी भी—जरुरत पडने पर उसका ही साथ देगी। ना, ना, ज्योति, यह बिलकुल अच्छा नहीं हुआ। मैं—मैंने केवल अपनी भलाई देखी—अरे यह नही, यह नही! रोओ नही! अच्छा लो, न कहूँगा।

ज्योति की आँखो मे जाने क्यों आंसू आ गये थे। शायद इसका कारण यह रहा हो कि उसकी अन्तरात्मा पति की बातों का सच्चे दिल से विरोध कर रही हो। हिन्दू नारी थी न वह! और हिन्दू नारी अपने सामने अपने पति का दीन भाव, उसकी हीनावस्था देखने की, अभी, अभ्यस्त नही। भीतर ही भीतर जैसे वह लाज से मर गई। इतनी ही देर मे वह जाने कब सदाशिव के पास पहुँच गई थी। पांवों पर हाथ रखते हुये, सिसकते बोली—आपको यह सब न कहना चाहिये। भगवान जो करते हैं, भले के लिये करते हैं। आप स्वामी हैं और आपकी सेवा करना मेरा धर्म है। आपके बेटे बेटी आज से मेरे भी हुये। वह अपनी माँ से रूठे कब तक रह सकेंगे? मैं उन्हे मना लाऊँगी। अच्छा, अब आप सोयें।

सदाशिव कुछ न बोले। केवल एक ठंडी साँस लेकर उठे और लाइट बुझा दी। फिर बिस्तर पर आकर पड रहे। सवेरे जब नौकर ने चाय के लिये उन्हे जगाया तब भी, किवाड उढ़का था। ज्योति कब उठकर बाहर चली गई थी, यह वह नही जान सके। सदाशिव ने उठकर बिस्तर पर से एक तकिया हटाई और किवाड खोल दिया। बूढ़े सदाशिव की सपने की वह रात, इस तरह, बीत गई।

इधर, अपने मन मे लड पाने मे एकदम असमर्थ होकर अनूप ने यही निश्चय किया कि वह इस घर पर नही रह सकेगा। प्रभा से यह निश्चय उसने कह भी दिया। उधर

सदाशिव की सुहागरात मन रही थी, इधर अनूप और प्रभा अलग कमरे मे नई मा को लेकर उलझ रहे थे।

अब क्या होगा अनूप ! व्याह तो हो गया !—प्रभा ने कहा।

हाँ, हो गया। पिता जी कहाँ है ?—अनूप ने पूछा।

अपने सोने के कमरे मे।—प्रभा ने उत्तर दिया।

अनूप—अच्छा प्रभा ! अब तो तुम्हारे मन की बात हो गई। व्याह तक तो मैं रुक गया पर अब मेरा यहाँ रहना किसी तरह नही हो सकता। तुमने भी यही मुझसे चाहा था। अपने को वेचकर मैंने तुम्हारा कहना पूरा कर दिया। मैं उनके सामने जा नही सका, इसका मुझे दु.ख है। उनका चरणस्पर्श तक न कर सका। तुम मेरी ओर से उनसे क्षमा माँग लेना। मुझे यह भी विश्वास है कि सारी बातें जानकर वह मुझे हृदय से क्षमा भी कर देंगी। उनसे कह देना कि व्यक्तिगत रूप से मुझे उनसे विरोध नहीं है।

प्रभा—तुम एक बार उनसे मिल लो अनूप, नहीं तो वह समझेंगी, अपने ही घर मे उनका तिरस्कार हो रहा है।

अनूप—कैसे मिल लूँ प्रभा ! उनके सामने जाते ही मैं अपने को भूल जाऊँगा। यह भूल जाऊँगा कि सामने बैठी, युवती नारी मेरी माँ बनकर इस घर में आई है और मैं उसका पुत्र बनकर उसका चरणस्पर्श कर रहा हूँ। इससे अच्छा तो

यही होगा, मैं उनके सामने न जाऊँ। कम से कम, एक मानसिक अपराध से तो बचा रहूगा !

प्रभा—तो तुम्हारा क्या करने का इरादा है ?

अनूप—मैं यहाँ से जा रहा हूँ। तुम मेरी ओर से पिताजी और नई माँ से क्षमा माँग लेना। कहाँ जाऊँगा, यह भी नहीं बता सकता। अभी कुछ निश्चय नही किया है।

उसी रात अनूप पत्नी को जल्दी बुलाने की सान्त्वना देकर अँधेरी रात के सन्नाटे मे घर से बाहर निकल गया। उस समय, द्वार के नौबतखाने में, सुहाग का सारंग शहनाई के स्वरो में बज रहा था।



## तीन

अनूप के मुँह से पूरी कहानी सुन लेने के बाद देवेन्द्र ने कहा—तो, यह बात है ! इस तरह घर से भाग कर आये हो ? प्रभा की ही बात, जान पड़ता है, ठीक है। अब, जब कि विवाह हो ही गया तो तुम्हारे इस तरह चले आने से क्या होगा ? कम से कम अपनी नई माँ को देख तो लेते। सम्भव है, उनके लिये परिस्थिति वैसी विषम न हो जैसी तुम समझते हो।

विषम न होगी ? देवेन्द्र, कम से कम तुम तो ऐसा न कहो। देश का दर्द तुम्हारी नसों में लहू बनकर वह रहा है, यह सही है और यह भी सही है कि उस पर तुम बड़े से बड़े प्राणों का बलिदान, स्वयं अपना बलिदान भी हँसते हँसते कर सकते हो पर यह न भूलो कि यह जो स्वेच्छा से, तिलतिल कर समाज के अग्निकुंड में निरन्तर हमारे घरों में जल मरने का अभ्यास हो रहा है, उसका महत्व तुम्हारे बलिदानों से जौ भर भी कम नहीं। भाई, देश ने तुम्हारे मन-प्राण को पूरी तरह आवृत कर रक्खा है, कहीं कोई भी छिद्र ऐसा नहीं बच रहा जहाँ से दुनिया का कोई और रोना, कोई और

दर्द भीतर प्रवेश पा सके, पर मैं, साहस का अभाव कहो या कुछ और अपने को इस तरह उस बड़े दर्द में डुबा नहीं पाया हूँ। अभी तो यह छोटे मोटे दर्द ही मेरे भीतर टीस टीस उठते हैं। मैं तो सोचता रहता हूँ, तुम लोगों के स्वप्न—स्वतंत्र देश मे भी यह दुखी, अपरितृप्त और पीड़ित मानव-आत्मायें कितने दिन शान्ति के साथ उस स्वतत्रता का उपयोग कर पायेंगी! खैर, इन बातो को छोड़ो। तुम कहते हो, सम्भव है उनके लिये परिस्थिति उतनी विषम न हो। मैं कहता हूँ, अच्छी तरह जानता हूँ, परिस्थिति विषम ही नहीं, भयकर और अपरिहार्य होगी। न हो तभी आश्चर्य है। रह गई मेरे चले आने और उनके दर्शन तक न करने की बात, सो तुम जानते हो, भावुकता मेरे बॉटे ज्यादा पड़ी है। अपने मन के विरुद्ध कोई बात हो जाने पर फिर अपने को रोक पाना मेरे लिये असभव है।—अनूप ने कहा और एक सिगरेट सुलगाई।

यह जो अचल सी, पाषाण प्रतिमा सी नारी उर्म्मिला चुपचाप मेज़ पर कुहनी टेके अनूप के मुँह की ओर देखती हुई कुछ सोच रही है, कुछ सुन रही है, वह अनूप की इस बात की सत्यता जानती है। अनूप के हृदय की पहिचान उसने पिछले कुछ वर्षों मे पाई है और, तभी अनजान मे ही और विवश बनी उसके पास तक खिंचती चली आई है। और जब आगे बढ़ी चली आई है तब नारी होने के कारण पीछे हट पाने का साहस वह अपने मे नहीं बटोर सकी है। आज

उसे याद आता है, जीवन की किसी पागल घडी मे उसने अनूप को भर आँखो देखा था और देखकर आँखो की राह, पूरी सतर्क रहते हुये भी, हृदय मे उतार लिया था। अनूप, सदा का प्रेमी वृत्ति का अनूप, उन दिनो भी यही ठहरा हुआ था। उस समय उसने बडी साध से अनूप के बिछावन बिछाये थे, उसके कपडे ठीक से तहा कर रक्खे थे, तकियो पर फूल बूटे बनाये थे, और बिछावन के पास, उसके कमरे मे, मेज पर फूलदान मे फूल भी सजाये थे। अनूप ने आँखो से, उसके हर काम के लिये मूक धन्यवाद भी दिया था। उस समय पगली उर्म्मिला ने समाज, कर्तव्य, धर्म और सब कुछ को भूलकर, मन ही मन कल्पना करली थी कि वह कभी किसी दिन अनूप पर अधिकार पायेगी। बेखुदी में वह यह भूल जाती थी कि एक किसी और का जीवन अनूप के जीवन से सम्बद्ध है और यह सम्बद्धता जीवन के अन्तिम क्षण तक दुनिया में अक्षुण्ण अडिग, अटूट समझी जाती है। वह स्वयं भी विवाहिता है, पति वाली है। समाज ने यह इजाजत नही दे रक्खी है कि एक विवाहिता स्त्री एक साथ दो जीवन साथियों से किसी भी रूप मे सम्बन्ध रक्खे। उस समय अनूप ने इस बात को कई बार ज़ाहिर भी कर दिया पर उर्म्मिला तो तब मीरा बनी हुई थी। ठण्ढी सासें लेकर कह उठती—हेरा, मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरो दरद न जाने कोय।

दर्द भीतर प्रवेश पा सके, पर मैं, साहस का अभाव कहो या कुछ और अपने को इस तरह उस बड़े दर्द मे डुबा नहीं पाया हूँ। अभी तो यह छोटे मोटे दर्द ही मेरे भीतर टीस टीस उठते हैं। मैं तो सोचता रहता हूँ, तुम लोगो के स्वप्न—स्वतन्त्र देश मे भी यह दुखी, अपरितृप्त और पीड़ित मानव-आत्मायें कितने दिन शान्ति के साथ उस स्वतन्त्रता का उपयोग कर पायेंगी ! खैर, इन बातो को छोड़ो। तुम कहते हो, सम्भव है उनके लिये परिस्थिति उतनी विषम न हो। मैं कहता हूँ, अच्छी तरह जानता हूँ, परिस्थिति विषम ही नहीं, भयकर और अपरिहार्य होगी। न हो तभी आश्चर्य है। रह गई मेरे चले आने और उनके दर्शन तक न करने की बात, सो तुम जानते हो, भावुकता मेरे बाँटे ज्यादा पड़ी है। अपने मन के विरुद्ध कोई बात हो जाने पर फिर अपने को रोक पाना मेरे लिये असभव है।—अनूप ने कहा और एक सिगरेट सुलगाई।

यह जो अचल सी, पाषाण प्रतिमा सी नारी उर्म्मिला चुपचाप मेज पर कुहनी टेके अनूप के मुँह की ओर देखती हुई कुछ सोच रही है, कुछ सुन रही है, वह अनूप की इस बात की सत्यता जानती है। अनूप के हृदय की पहिचान उसने पिछले कुछ वर्षों मे पाई है और, तभी अनजान मे ही और विवश बनी उसके पास तक खिचती चली आई है। और जब आगे बढ़ी चली आई है तब नारी होने के कारण पीछे हट पाने का साहस वह अपने मे नहीं बटोर सकी है। आज

उसे याद आता है, जीवन की किसी पागल घडी में उसने अनूप को भर आँखों देखा था और देखकर आँखों की राह, पूरी सतर्क रहते हुये भी, हृदय मे उतार लिया था। अनूप, सदा का प्रेमी वृत्ति का अनूप, उन दिनो भी यही ठहरा हुआ था। उस समय उसने वडी साध से अनूप के विछावन विछाये थे, उसके कपडे ठीक से तहा कर रक्खे थे, तकियो पर फूल वूटे वनाये थे, और विछावन के पास, उसके कमरे में, मेज पर फूलदान में फून भी सजाये थे। अनूप ने आँखों से, उसके हर काम के लिये मूक धन्यवाद भी दिया था। उस समय पगली उर्म्मिला ने समाज, कर्तव्य, धर्म और सव कुछ को भूलकर, मन ही मन कल्पना करती थी कि वह कभी किसी दिन अनूप पर अधिकार पायेगी। वेखुदी में वह यह भूल जाती थी कि एक किसी और का जीवन अनूप के जीवन से सम्वद्ध है और यह सम्वद्धता जीवन के अन्तिम क्षण तक दुनिया मे अक्षुण्ण अडिग, अटूट समझी जाती है। वह स्वयं भी विवाहिता है, पति वाली है। समाज ने यह इजाजत नहीं दे रक्खी है कि एक विवाहिता स्त्री एक साथ दो जीवन साथियो से किसी भी रूप मे सम्वन्ध रक्खे। उस समय अनूप ने इस वात को कई वार जाहिर भी कर दिया पर उर्म्मिला तो तव मीरा वनी हुई थी। ठण्ढी सासें लेकर कह उठती—हेरा, मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरो दरद न जाने कोय।

सो वही अनूप, घर की एक मानसिक दुश्चिन्ता से परित्राण पाने के लिये, उसके पास आज आया है। उसका कर्तव्य है कि जब वह बाप, माँ, बहन और पत्नी छोड़कर एकमात्र उसी को सहारा बनाकर, आ ही गया है तब उसके बेचैन, परीशान दिल को राहत दे, उसे धीरज बँधाये ताकि वह किसी की अनुपस्थिति से आकुल-व्याकुल न हो। यह जो देवेन्द्र हैं, यह जो उसके पति हैं, वह इस विषय मे सर्वथा अयोग्य हैं। वह हँस बोल सकते हैं, घड़ी दो घड़ी अपने में उसे उलझाये रख सकते हैं, बाप, मां बहन, सबकी आंशिक क्षतिपूर्ति भी उनसे हो जा सकती है, पर वह जो एक पत्नी है, भली या बुरी, उसके रिक्त स्थान को भरने की क्षमता वह अपने मे कहा से लावें ! उर्म्मिला सिहर उठी, वह यह क्या सोच रही है ? पत्नी की क्षतिपूर्ति ! देवेन्द्र यदि नहीं कर सकते तो क्या वह कर सकती है ? ऐसा हो भी सके तब भी... राम राम.. .. यह क्या कभी सोचने की बात है ?

स्त्री बरसाती नदी है, यह कोई अत्युक्ति नही। वैसी ही चचल, अल्हड और वेगवान ! देखते देखते गुलाबी, किलकारी भरता हुआ बचपन जाने कहां चला जाता है और उसका स्थान उछलता, गरजता, बरसता यौवन ले लेता है। फिर वह यौवन भी अपने पीछे स्मृति का एक अबार छोड़कर, बीते हुये घड़ियो की खट्टी मीठी कसक छोड़कर और एक रहस्य, एक कुतूहल, एक पहेली छोड़कर जर्जर, कम्पित, शिथिल बुढ़ापे के हाथ बिक

जाता है। एक दिन वह बुढापा भी चुपके से कही चल देता है और नारी पहेली की पहेली ही बनी रह जाती है। उसे जानकर भी, उसे पाकर भी हम नही जानते, हम नही पाते। और फिर स्त्री का यौवन! अपनी एक एक भगिमा मे प्रलय और सृजन, हास और रुदन, जीवन और मरण लेकर आता है। जहाँ पैसा हो, खाने को यथेष्ट भोजन हो, पहनने को यथेष्ट वस्त्र हो, भरा पूरा घर हो और सब तरफ से सब आराम हो, वहाँ नारी का यौवन प्रलय नही ले आता, रुदन नही ले आता, मरण नहीं ले आता, वहाँ वह मगल वरदान बन कर आता है। लेकिन यह जब वहाँ प्रवेश करता है, जहाँ ससार की समस्त सुविधाओं का सर्वथा अभाव है तो साक्षात् काल बन जाता है। और फिर भी यह आता ही है। शायद इसे नही मालूम कि धनहीनों और साधनहीनो के घर सौंदर्य और जवानी वरदान नही, अभिशाप बन कर टीसते हैं। भाग्यहीनो के घर जवान होना मृत्यु का आवाहन करना है।

उर्म्मिला भी बरसाती नदी बनी हुई बढ़ रही थी। आसपास की दुनिया, घर की परिस्थिति और अपने भविष्य से अनवगत वह यौवन मे पदार्पणकर चुकी थी। वह युवावस्था जो सपने मे रहती है, हवा में उडती फिरती है और जो एक उन्माद, रसमय उन्माद का भाण्डार होती है। फिर भी आश्चर्य यह है कि उसे जैसे इसका ज्ञान ही नही। परिवार के और लोग जब कहते कि यह बड़ी हो गई, ब्याह के योग्य हो गई, वह एक

बार ऊपर से नीचे तक अपने को देखने लगती। बडी हो गई है, यह वात तो वह समझ सकती थी, लेकिन व्याह के योग्य हो गई है, यह वात उसकी समझ मे नही आती थी। वह पाती कि उसका शरीर वैसा ही है। हाथ, नाक, आँख और कान सब ज्यो के त्यो हैं, मन भी वैसा ही है। हा, यह वह मान सकती है कि शरीर उसका गदरा कर थोड़ा भर जरूर आया है। बस, इस परिवर्त्तन से ही उसका व्याह हो जाना चाहिये, यह वात तो वह समझना चाह कर भी नही समझ पाती। उसने देखा था, बड़ी होने से पहिले ही उसकी कितनी सखी सहेलियाँ अपने घर बार से छुडा दी गइ थीं और एक अनजान आदमी के साथ विदा कर दी गइ थी। उनका तो शरीर भी परिवर्त्तित नहीं हुआ। व्याह का नाम सुन सुन कर वह यही सब सोचती किन्तु कभी-कभी रात को सोने के वाद सुवह उठ कर, पलग पर बैठे ही बैठे वह सोचती,—आज रात की नीद मे इतनी मधुरता कहा से भर गई थी! वह रात को देखा किस था! धु धला-धु धला सा! वह कोइ परिचित, अब तक का जाना सुना हुआ तो नहीं था! एक पुरुष मात्र था लेकिन—लेकिन वह आकर्षक कितना था। जाने क्या क्या मुझस कह रहा था, लेकिन मै उत्तर न दे सकी। मेरे तो ओठ ही नहीं खुले। वह आया क्यो मेरे पास? मैने तो नहीं बुलाया। इतना जरूर है कि उसके आने से, उसके पास रहने स, बैठने से मुझे कुछ बुरा नहीं लगा। तो फिर क्या अच्छा लगा? हाँ, शायद हाँ! ऊँह, होगा भी। अपने हृदय

का हाल वह स्वयं नहीं समझ पाती, हार कर चुप बैठ रहती है। लेकिन वह हार कर चुप बैठ जा सकती है, लड़की सयानी है, उसे चिन्ता हो या न हो, घर वालों को चिन्ता है। कुछ ही व्यक्तियों के छोटे से परिवार के रात दिन इसी चिन्ता में व्यतीत होते हैं। चुपके चुपके इधर उधर बात भी हो रही है, पर हर जगह से सवाल उठता है रुपये का। भाई है, पर वह तो थोड़ा कम, माँ चिन्ता के मारे घुली जा रही है। पति मरते समय यही थाती उसे सौंप गये थे, इसे वह क्या ठीक ठिकाने नहीं लगा सकेगी? कन्या चन्द्रकला सी बढ़ती चली जा रही है और आय कृष्णपक्ष की चाँदनी सी विलुप्त होती जा रही थी। ऐसी दशा में व्याह के लिये रुपये कहाँ से आयें? वह दिन रात इसी विषय को लेकर व्यस्त रहती।

अनूप को आज इतने दिनों बाद अपने सामने फिर से पाकर उर्म्मिला का हृदय तीन बरस पीछे की घटनाओं से उलझने लगा। ऐसी ही एक सध्या थी। वह उतर कर नीचे नहाने गई तो पिछली रात का पड़ोस में सुना हुआ ग्रामोफोन रेकार्ड उभर कर उसके कंठ में बोल उठा। गुनगुनाने लगी—न जाने क्या है दिल का राज़। पीठ पर आपाद केशराशि बिखरी पड़ी थी। वस्त्र भीग जाने से शरीर में चिमट कर गोरा वर्ण और पके सेवों सा यौवन ऊपर उभर आया था। उसे कुछ ध्यान ही नहीं रहा कि बाहर का द्वार उसने खुला छोड़ दिया है।

माँ उधर चूल्हे के पास बैठी दहेज की कुप्रथा पर मन ही मन स्पीच दे रही थी। उसी समय भाई भीतर आया और दरवाज़े पर ही उसके कानों ने सुना एक कर्णप्रिय मधुर स्वर, और एक पग भीतर बढ़ाते ही देखा उर्म्मिला का लगभग निरावरण शरीर! जल्दी से मुँह फेरकर ऊपर चढ़ गया और माँ को पुकार कर बोला—माँ, सुनो।

माँ ने सुना और ऊपर आई लेकिन उर्म्मिला उस समय गा रही थी—बिन देखे आराम न आये। उसने सुना ही नहीं। माँ ऊपर आकर बोली—क्या है?

भाई—अभी अभी—पर यह तो बताओ नहाना क्या दरवाज़ा बन्द करके नहीं हो सकता?

बात बिलकुल दूसरी थी। उर्म्मिला को उसका भाई प्राणों से भी अधिक चाहता है पर इस समय वह बाहर से खीझा हुआ वापस आया था। एक जगह नौकरी के लिये बड़ी उम्मीदें लेकर गया था, ठीक नहीं हुई। कहाँ तो वह दिल से रो रहा था, कहाँ उसके घर वाले ही मंगल मनाते रहे। माँ उसका चेहरा देखकर समझ गई और तभी उसने पुकारा ज़ोर से—उर्म्मिला!

उर्म्मिला नहा चुकी थी और वस्त्र बदल रही थी, बोली—आई। और कुछ ही पलों में साक्षात देवकन्या बनी, सामने आ खड़ी हुई। जाने क्यों इस समय उसे देखकर भाई का क्रोध उबला नहीं, शान्त पड़ गया। बिना कृत्रिम प्रसाधनों के उसका रूप, उसका सद्यःस्नात यौवन इस साधारण सी सारी में फटा

पड रहा था—उसमे समा नहीं रहा था। केशराशि वैसी ही नागिन बनी उसकी पीठ पर लहरा रही थी, पर भाई को उससे भय नही हुआ वह एकटक उस स्वर्गीय छवि को देखता रह गया। भीतर ही भीतर वह सोचने लगा—यह स्वर्गीय सौंदर्य, यह हँसने खेलने की आयु, यह कोकिल-दुर्लभ स्वर अपना बसेरा कही पायेंगे या नही! माँ ने डाँट कर पूछा—क्यों, तू नहाने जाती है तो दरवाजा बन्द क्यो नही कर लेती? कुछ लाज शर्म बची है या सब घोलकर पी गई?

भाई—हाँ, हाँ, और दरवाजा खोलकर गाती भी है।

उर्म्मिला ने समझा, इस भयकर अपराध के लिये स र अब उस पर बरसेंगे। वह कैसे समझाये कि जान बूझकर उसने दरवाजे खुले नही छोडे थे, उसे बन्द करने का ख्याल ही नहीं आया था। चुप रह गई। तभी भाई ने कहा—और गाना भी पूरा नहीं, एक दो कडी गाकर रह जाती है। चल, पूरा गाना गा नहीं तो पिटेगी।

उर्म्मिला के जान मे जान आई और माँ ने ऐसा मुह बनाया जिस पर लिखा हुआ था—अरे यह क्या! दोनों मिलकर मुझे बनाते हैं। वह वहाँ से चली—मै जाती हूँ। बूढे बुढियों से मजाक अच्छा नही होता। चूल्हे के सामने फिर यथाविधि बैठने पर उसके मुह से निकला—हाय मेरे बच्चे! यह उसके अन्दर के माँ की पुकार थी।

इधर भाई और बहन हसते हसते लोट गये। जब वेग कुछ शान्त हुआ तो भाई ने कहा—उर्म्मिला। हसी छोडो। यह बताओ कि तुम्हारी व्याह करने की इच्छा होती है? तुम यह जानती हो कि मै तुम्हारा भाइ और मित्र दोनो हूॅ। मुझसे लजाने की जरूरत नहीं है, बोलो।

एक बार तो उर्म्मिला ऐसी घबड़ाई जैसी सागर मे डुबकी खा गई हो पर, तुरन्त ही उसने अपने को सयत किया और बोली—यह तुम मुझसे क्यों पूछते हो? क्या यह मेरे कहने की बात है? मुझसे ऐसे सवाल न किया करो। और उठकर भीतर के कमरे मे चली गई। भाई ने वहाॅ भी गला न छोडा, भीतर जाकर चारपाई पर बैठते हुये बोला—हा, तुम्हारे कहने और तुम्हीं से जानने की बात है उर्म्मिला! जिसका व्याह होना है वह यदि खुलकर उस विषय मे राय दे तो वह निर्लज्ज न कहा जा सकेगा। तुम कहोगी—घर मे रुपये भी हैं या व्याह का स्वप्न ही देख रहे हो। यह प्रश्न मेरे सामने है जरूर, पर वह बाद का है। पहले यह जानना जरूरी है कि तुम व्याह करना चाहती भी हो या नहीं। यह जान लेने के बाद रुपयो के बारे में सोचा जायगा। बहुत मुमकिन है, बिना रुपयो के भी काम चल जाय।

उर्म्मिला ने देखा, इस समय इस विवाद से वह भाग नही ी, भाई इस समय पूछ कर ही रहेगा। यह बात नहीं थी इस विषय पर कभी उसने गम्भीरता से सोचा न हो।

प्रत्युत, ठीक इसके विपरीत बात थी। उसने सोचा था, ख़ूब सोचा था पर किसी निश्चय पर नही पहुँच पाती थी। अपने अंदर एक पुलक, एक स्पदन, एक उन्मद भावना वह पाती थी लेकिन वह क्या थी, यह वह नहीं समझ पाती थी। इसके भी कारण थे। आरम्भ से ही वह ऐसे वातावरण में रही थी जहा एक प्रकार से, स्त्रीधर्मेतराणा प्रवेशो निषिद्धः था। जान बूझकर नही, घर की निर्धनता ने स्वभावतः लोगो को उनसे हेलमेल बढ़ाने में, दुनियादारी दिखाने मे कृपणता दिखाई थी। एक अपरिचित युवक को देखकर उसके भी रोमांच हो आता था, आँखें झुक जाती थीं, गालो पर लाली दौड़ जाती थी और नसनस सिहरने लगती थी, लेकिन इसके लिये प्रतिकार का साधन न होने से वह अभ्यस्त हो गई थी इस परिस्थिति को साधारण भाव से ग्रहण करने की। भाई के प्रश्न ने उसे फिर से अपने प्रति सोचने का अवसर दिया—आख़िर किसी युवक को देख कर वह क्यों भीतर ही भीतर खिलने सी लगती है? उसके मन मे उथल पुथल सी क्यों मच जाती है? आँखें एक विचित्र भाव से लज्जा-भार-नत क्यों हो जाती हैं? कलेजे में कहीं, किसी कोने मे मीठा मीठा दर्द क्यों पैदा हो जाता है? और वह वशी ध्वनि-ठगी-मृगी-सी क्यो हो पडती है? यह सब क्या है! एक स्त्री को देख कर या पाकर उसके हृदय में ठीक ऐसे भाव क्यो नही आते? तो क्या उसे कोई 'पुरुप' चाहिए? सगी, साथी, जीवन सहचर? उसने पाया कि हाँ, उसे चाहिए

कोई जो उसकी इन भावनाओं की पूर्ति कर सके। लेकिन वह कौन हो ? यहीं आकर वह रुक गई। इसके आगे वह उस समय नहीं सोच सकी। उसके झुके हुए मुख ने भाई को बताया कि वह उलझन में पड़ गई है। क्या कहे, क्या नहीं ?

भाई ने कहा—देखो ! यह विषय ऐसा नहीं जो इतनी जल्दी सोच डाला जाय। तुम सोच देखो कि किसी व्यक्ति विशेष के लिए तो तुम व्यग्र नहीं हो। यदि हाँ, तो निःसंकोच कह दो। कह देना।

उर्म्मिला बड़ी देर तक वहीं बैठी रह गई और उठी तब, जब माँ ने खाने को बुलाया। नीचे जाने पर उसने पूछा—आज क्या बातें हो रही थी।

उर्म्मिला—होना जाना क्या है ? वही शादी, शादी, शादी ! जब देखो तब शादी, जैसे इसके सिवाय और बात करने को रह ही नहीं गई है। मेरा तो जी ऊब गया।

लेकिन जब रात को वह बिस्तर पर पड़ी तब वही जी उबाने वाली बात रह रह कर उसके सामने आने लगी। उसने रोकना चाहा पर बरबस ही उसमें उलझती जाने लगी। भाई ने आज उसके सोये स्त्रीत्व को, नारित्व को, पत्नीत्व को जगा दिया था। जो बात वह भूली रहती थी वही इस समय उसे याद आने लगी। उसने मन ही मन देखना शुरू किया कि अब तक के जीवन में कितने पुरुष आये और कितने अपनी छाप, जाते जाते छोड़ गए। कलेजे के तार तार उसने उधेड़ डाले

और तब उसने पाया कि सब से भीतर की तह मे एक मूर्ति दुबकी बैठी है और गौर से जाँचने पर उसे यह भी स्पष्ट हो पड़ा कि वह मूर्ति है अ—नू—प की। वह यहा कब आ गया ? हा, मानसी के विवाह के समय इन्हे देखा था और पान भी लगा कर दिए थे और इन्होने उत्तर मे कुछ कहा भी था। यह कितने सुन्दर है! कितने आकर्षक है। उहू, सुन्दर तो बिल्कुल ही नही हैं पर आकर्षक जाने क्यो लगते हैं! विवाह के समय वहाँ इतने व्यक्ति उपस्थित थे किन्तु यह अपना अलग ही व्यक्तित्व लिए थे! मुख पर एक अजीब व्यथा का भाव। आखो और होठो पर एक बरबस मुसकान और शायद कलेजे मे कोई धधकती आग। अच्छा, वे दुखी से क्यो जान पडते थे ? उन्हे क्या कोई कष्ट है ? कोई व्यथा है ? कोई दर्द है जिसे वह किसी से कह नही पाते या कहना ही नहीं चाहते और भीतर ही भीतर जल रहे हैं ? कही कुछ ऐसा है जो यह कही पा नही सके और अन्दर ही अन्दर हाय हाय कर रहे हैं ! उनका तो विवाह भी हो चुका है। वह कैसी भाग्यशालिनी है जिसे ऐसे पुरुष का सान्निध्य प्राप्त है! लेकिन यह दुखी क्यो हैं ? क्या पत्नी से मन नही मिलता ? क्या मैं इन्हे सुखी कर सकती हूँ ? क्या वह मुझे स्वीकार कर सकेंगे ? उनके मन के समीप जाकर क्या मै उनको तनिक भी विश्राम दे सकूगी ? लेकिन यह मै क्या सोच रही हूँ ? मुझे हो क्या गया ? अरे, वह तो विवाहित हैं पागल ! तुझे कैसे ग्रहण कर सकेंगे ? एक

साथ एक घर में दो पत्नियाँ रखना क्या उनके लिए सम्भव होगा ? वह यदि तेरी बात सुन भी लें, तुझे ग्रहण करने को प्रस्तुत भी हो जायँ तो उनका घर, उनका परिवार, उनका समाज, उनकी दुनिया ! क्या यह भी तुझे स्वीकार करेंगे ? फिर, उनकी पत्नी ! वह बिचारी यह कैसे सहेगी ? माना कि वह ठुकराई हुई है। उससे उनका मन नहीं मिलता फिर भी उसे इतना संतोष तो है कि उसके पति उसे छोड़ कर किसी अन्य के साथ नहीं रहते ! क्या तू स्त्री होकर उस अपनी बहन को यह मानसिक कष्ट पहुँचायेगी ! यह तुझसे सम्भव होगा ?

उस रात उस युवती ने योंही तर्क वितर्क मे जागते रह कर सवेरा किया। जब चारपाई छोड़ कर उठी, छ बजे थे। कमरे के बाहर सुबह की मीठी धूप लोट रही थी और वृक्षों पर के रात भर के अलसाये पंछी, चारे दाने की खोज मे बसेरा छोड़ कर उड़ चले थे। उर्म्मिला ठगी सी उस दृश्य को देखती रह गई। एक बार उसके मन में यह भी आया, ब्याह करना क्यों जरूरी हो ? क्यों नहीं वह इस पक्षी दल की तरह निर्द्वन्द, उन्मुक्त और खुली उड़ते फिरने के लिए छोड़ दी जाय ? अरे, उसके यौवन का इतना आयोजन प्रयोजन क्यों हो ? क्यों नहीं वह दिन दिन भर डाल पर चहकती ...रे, रात को मनचाहा बसेरा खोज टिक रहे ? उसका अन्तस ...स समय जिस माधुर्य्य मे ओतप्रोत था, जो मादक स्वप्न, ...प्यार का मीठा संसार वह रात भर देखती रही थी, शायद

उसने ही आज प्रकृति के इन नित्य पुरातन दृश्यो मे उसके लिए सौन्दर्य का अनोखा ससार ला खडा किया था। वह अपने में एक नवीन परिवर्त्तन पाने लगी। अपने अगो मे उसे एक अस्वाभाविक उत्तेजना मिली। प्राण मे एक अभूतपूर्व प्यास का अनुभव हुआ। वह जहाँ की तहाँ खड़ी, निर्निमेप दृगो से प्रात काल की उस स्वर्गीय छवि का पान करने लगी। उसी स्थान में खड़े खड़े जाने कब उसके मन ने यह निश्चय कर लिया कि वह या तो अनूप के साथ रहेगी अन्यथा आजीवन इसी तरह कुमारी बनी रहेगी। किसी भी हालत मे हो, अनूप के सिवाय उसका मन और कोई नही पा सकेगा सरल मन की इस अनधिकार प्रतिज्ञा की कोई सुन न सका, कोई जान न सका, केवल बादलो की ओर से बाहर झाँकते हुए दिनमणि उर्म्मिला की इस भीष्म-प्रतिज्ञा के साक्षी अलक्ष्य रूप से हो गए। इस मन ही मन की गई प्रतिज्ञा के बाद घर भर ने देखा, उर्म्मिला की आँखो का चापल्य और मुख की हसी जाने कहाँ खो गई। जहाँ निश्चित, निश्छल भाव से तितली की तरह वह घर मे डोलती फिरती थी वहाँ अब अधिकाश अपने कमरे में गुम-सुम बनी बैठी रहती। वह सोचती कि उस पर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ पड़ी है। एक प्रतिज्ञा का पालन करना है। वयस प्राप्त होने के कारण वह यह समझ गई थी कि अनूप उसका नही हो सकेगा, वह विवाहित है, उसकी पत्नी है। स्वय अपने तई एक दूसरे से योजनों दूर रहते हुए भी समाज

साथ एक घर में दो पत्नियाँ रखना क्या उनके लिए सम्भव होगा ? वह यदि तेरी बात सुन भी ले, तुझे ग्रहण करने को प्रस्तुत भी हो जायँ तो उनका घर, उनका परिवार, उनका समाज, उनकी दुनिया ! क्या यह भी तुझे स्वीकार करेंगे ? फिर, उनकी पत्नी ! वह विचारी यह कैसे सहेगी ? माना कि वह ठुकराई हुई है। उससे उनका मन नहीं मिलता फिर भी उसे इतना संतोष तो है कि उसके पति उसे छोड़ कर किसी अन्य के साथ नहीं रहते ! क्या तू स्त्री होकर उस अपनी बहन को यह मानसिक कष्ट पहुँचायेगी ! यह तुझसे सम्भव होगा ?

उस रात उस युवती ने योहीं तर्क वितर्क में जागते रह कर सवेरा किया। जब चारपाई छोड़ कर उठी, छ बजे थे। कमरे के बाहर सुबह की मीठी धूप लोट रही थी और वृक्षों पर के रात भर के अलसाये पक्षी, चारे दाने की खोज में बसेरा छोड़ कर उड़ चले थे। उर्म्मिला ठगी सी उस दृश्य को देखती रह गई। एक बार उसके मन में यह भी आया, ब्याह करना क्यों जरूरी हो ? क्यों नहीं वह इस पक्षी दल की तरह निर्द्वन्द, उन्मुक्त और खुली उड़ते फिरने के लिए छोड़ दी जाय ? अरे, उसके यौवन का इतना आयोजन प्रयोजन क्यों हो ? क्यों नहीं वह दिन दिन भर डाल पर चहकती रहे, रात को मनचाहा बसेरा खोज टिक रहे ? उसका अन्तस उस समय जिस माधुर्य्य में ओतप्रोत था, जो मादक स्वप्न, प्यार का मीठा संसार वह रात भर देखती रही थी, शायद

उसने ही आज प्रकृति के इन नित्य पुरातन दृश्यो मे उसके लिए सौन्दर्य का अनोखा ससार ला खड़ा किया था। वह अपने में एक नवीन परिवर्त्तन पाने लगी। अपने अगो मे उसे एक अस्वाभाविक उत्तेजना मिली। प्राण मे एक अभूतपूर्व प्यास का अनुभव हुआ। वह जहाँ को तहाँ खडी, निर्निमेप दृगो से प्रात काल की उस स्वर्गीय छवि का पान करने लगी। उसी स्थान में खड़े खड़े जाने कव उसके मन ने यह निश्चय कर लिया कि वह या तो अनूप के साथ रहेगी अन्यथा आजीवन इसी तरह कुमारी वनी रहेगी। किसी भी हालत मे हो, अनूप के सिवाय उसका मन और कोई नही पा सकेगा सरल मन की इस अनधिकार प्रतिज्ञा को कोई सुन न सका, कोई जान न सका, केवल वादलो की ओर से वाहर झाँकते हुए दिनमणि उर्म्मिला की इस भीष्म-प्रतिज्ञा के साक्षी अलक्ष्य रूप से हो गए। इस मन ही मन की गई प्रतिज्ञा के वाद घर भर ने देखा, उर्म्मिला की आँखों का चापल्य और मुख की हसी जाने कहाँ खो गई। जहाँ निश्चित, निश्छल भाव से तितली की तरह वह घर में डोलती फिरती थी वहाँ अव अधिकाश अपने कमरे में गुम-सुम वनी वैठी रहती। वह सोचती कि उस पर वड़ी भारी जिम्मेदारी आ पड़ी है। एक प्रतिज्ञा का पालन करना है। वयस प्राप्त होने के कारण वह यह समझ गई थी कि अनूप उसका नहीं हो सकेगा, वह विवाहित है, उसकी पत्नी है। स्वय अपने तई एक दूसरे से योजनो दूर रहते हुए भी समाज

और ससार की दृष्टि मे वह पति-पत्नी एक हैं। लेकिन वह पर अपने हृदय को क्या करे!

सो, वही अनूप आज फिर आया है। और इतने दिनो बाद उसे सामने पाकर और उसके मुँह से उसके भावुकताजन्य ऐच्छिक स्वगृह निर्वासन की बात जानकर उर्म्मिला के मन में इतने वर्षों का सोया अतीत चोट खा कर तिलमिला कर उठ बैठा है। प्राणपण से जिस प्रतिज्ञा को पूरी करना चाहा था वह पूरी नहीं हुई। पूरी होने की कौन कहे, इतना दुर्लंघ्य व्यवधान बीच में आ पड़ा जिसे अतिक्रमण करना दोनों के लिए असाध्य है। फिर भी, बहुत दिनो की बहुत सी बाते आज, इस क्षण भीड लगा कर उसके हृदय में आ एकत्र हुई हैं। देवेन्द्र के मन मे अनूप को लेकर उर्म्मिला के लिए सदेह का सूत्रपात्र हो चुका था। यह और बात है कि अपनी स्वभावगत उदारता और सहज गम्भीरता के कारण उस सदेह को बहुत बड़ा बना कर देवेन्द्र ने कभी नहीं देखा। वह घटना क्या भूलने योग्य है। गर्मी के एक झुलसाने वाले दिन मे जब उर्म्मिला अनूप के घर दोपहरी मे बैठी हुई थी। सभी वहां उपस्थित थे, उसी समय अनूप वहाँ आया। माथे पर और मुह पर और हाथो पर पसीने की बूँदे भयकर रूप से चुह-चुहा आई थीं। बिजली के पखे की हवा मे भी वे बूँदें दब नहीं पाई, रूमाल भी अनूप के जेब मे खोजे नही मिला, लापरवाह था ही वह, कही छोड आया होगा। नर्मा उर्म्मिला ने सहज ही उठ कर उसे अपना रूमाल दे दिया

था। उस कपडे के छोटे स टुकडे के स्पर्श से ही जैसे अनूप की बाहरी इन्द्रियाँ ही नही, भीतरी तह तक शीतलता खेल गई। अनूप ने केवल इतना ही कहा था—धन्यवाद और उर्म्मिला ने इन चार जैसे अक्षरो के शब्द को सम्पूर्ण मन से पी लिया था। उसके बाद इतने दिनो के सुदीर्घ समय मे कब और किस किस रूप में उस दिन के सन्देह की भूमिका जड होकर देवेन्द्र के मन में जमती गई है, यद्यपि उर्म्मिला जानती है, फिर भी लगातार चेष्टा करके उसे भूले रहने में ही उसने कल्याण समझा है। कई बार इच्छा हुई है कि अनूप से कह दे--जाओ कही, किसी ओर से मेरें बरबस शान्त सुश्रृखल जीवन मे आग बरसाने मत आओ, किन्तु जाओ कह भर देने से ही यदि मन का अतिथि सहज ही चला जाने लगे तब तो दुनिया का सारा हाहाकार, सारा रोना समाप्त हो जाय।

देवेन्द्र ने कहा—"अनूप ! भावुकता तुम्हारे बाँटे ज्यादा पडी है या नहीं और अपने मन में विरुद्ध कोई बात हो जाने पर तुम अपने को रोक सकते हो या नही, यह थोडा बहुत मैं भी जानता हू। पर यह तो कहो, इस तरह घर छोड कर चले आने से किसको हानि हुई ? खाओगे क्या, रहोगे कहाँ, क्या करोगे ? यह सब सोचा है।

अनूप—सब सोचा है भाई। जब घर छोडा है तब आगन्तुक विपत्तियों को भूला नहीं हू। इतने बडे शहर में क्या एक अपरिचित के लिए पड रहने के जगह की भी कमी होगी ?

खाने की बात रही, सो, यदि तुम्हीं से कहूँगा कि खिला दो तो क्या नाहीं कर सकोगे ?

देवेन्द्र—अच्छा, अच्छा लेकिन इस तरह कितने दिन चलेगा ? कुछ न कुछ तो करना ही होगा। और जो वह सावित्री ( अनूप की पत्नी ) है, उसका क्या करोगे। अब तुम्हारे जीवन मे तुम ही तुम तो नही हो, एक और भी तो है ?

अनूप ने जैसे बड़ी व्यथा से उत्तर दिया—-हाँ, भाई एक और भी है, और उस एक और के ही लिए मुझे कुछ न कुछ करना होगा, यह भी सही है। अकेला होता तो कही भी पड़ रहता, कुछ भी खा लेता पर अब ऐसा नहीं हो सकता। जान पडता है देवेन्द्र, व्याह होते ही आदमी की सारी आश्चर्य अभिज्ञता, सारी मधुरता और स्वतन्त्रता मारी जाती है, फिर चाहे वह स्त्री हो, या पुरुप। एक मनोवैज्ञानिक ने कहा है कि हर आदमी अपने जीवन के कुछ महीनो मे बुद्धि और तर्क के विपरीत काम करता है, शायद इन्ही महीनो मे वह व्याह करता है। खैर, सावित्री भली हो या बुरी उसे भी ले ही आना होगा। देखो, यह कब सम्भव होता है।

इसी बीच देवेन्द्र को एक आदमी आकर कह गया है कि पास ही के एक गाँव मे किसानो की एक मिटिंग है। शाम होते होते चलना होगा और कल किसी समय वापस आना होगा सो, देवेन्द्र को जाना ही है। उर्म्मिला ने चाहा कि कहे मत

जाओ, तुम नही जानते, इस समय तुम्हारा न जाना ही ठीक है पर उसे याद आया, स्वामी ने कहा था—'अपने भगवान से प्रार्थना करो, मेरी देह का कण कण देश के काम आ जाय। शाम होते न होते देवेन्द्र चल दिया। उर्म्मिला घर मे अकेली रह गई, बाहर रह गया अनूप।

बाहर रह गया वह सही पर बाहर रह कर भी वह भीतर उर्म्मिला के पास था। उर्म्मिला भीतर रह कर भी बाहर अनूप के पास थी। मन ही मन यह सामीप्य का खेल कुछ देर चला पर अधिक न चल सका। खाना बन चुकने पर उर्म्मिला को बाहर बैठक मे अनूप से कहने जाना ही पडा। बिजली के आलोक में भी बरबस जैसे अपने को अन्धकार मे रखने के आशय से, अनूप ने अपने दोनो हाथ आखो पर रख लिए थे और गुम-सुम बना, कुर्सी पर बैठा हुआ था। उर्म्मिला गई और एक अज्ञात वेदना से उसके मन-प्राण, तन-बदन सिहर उठे। अनायास ही उसके हाथ एक बार अनूप की ओर बढ़ चलने को आतुर हो गए, अनायास ही एक बार उसकी आखो मे ओस की बूँदो की झलमल हुई मन-देश मे उथल पुथल हुआ। अनायास ही एक बार अपने को अनूप मे समूची लय कर देने की साध उभर आई पर सब कुछ क्षणिक! वह सम्हल गई। कुर्सी के ठीक पीछे खडी उर्म्मिला की सारी के उद्वेलन से अनूप की विचारधारा भङ्ग हो गई, वह चौंक पडा। कहा—अरे तुम!

हाँ, मैं। खाना तयार है, यही कहने आई थी! कहाँ खाओगे? भीतर चलोगे, या यहीं ला दूं?

जहाँ जी चाहे। खाने से मतलब, जगह से क्या?—अनूप ने उत्तर दिया।

उर्म्मिला समझदार है। उसने लक्ष्य किया, उत्तर कुछ अन्य-मनस्कता में मिला है। कहीं कुछ भावुकता भी इसमें है। बोली-तब यहीं ला देती हूँ। तुम हाथ मुँह धोलो।

खाते खाते अनूप ने कहा—बहुत दिन हुए, एक उपन्यास पढा था। आज, इतनी रात, यों तुम्हारे पास बैठकर खाना खाते खाते उसी की बात याद आ रही है।

पढा उर्म्मिला ने भी बहुत है। उपन्यासों में ही पिछले दिनों वह रही है—ठीक उन्हीं के एक पात्र जैसी। वह समझ गई। अनूप इस समय चरित्रहीन को लेकर उलझ रहा है। उपेन्द्र वह स्वयं बन रहा है, किरण है उर्म्मिला! किरणमयी भी एक दिन इसी तरह उपेन्द्र को खिलाने बैठी थी, पर, उसकी और उर्म्मिला की स्थिति में बहुत अन्तर है। किरण पति को प्यार नहीं कर सकी थी, नैयायिक स्वामी भी कभी पूरी तरह उसे अपना प्यार नहीं दे सके। उपेन्द्र, विवाहित उपेन्द्र को वरवस रोक कर खिलाने के मिस किरण ने जो अपना अनादृत प्यार उन पर लुटा देना चाहा था, उस जैसी मनस्थिति उर्म्मिला की कहाँ थी! उसने एक बार अपने जीवन के समस्त छिद्रों

को अपने ही हाथो बन्द करके देवेन्द्र से सम्पूर्ण प्यार करने का अभिनय किया है और कहना होगा कि, सफल भी रही है। दर्शको ने प्रशसा भी की है। पति उसके अतीत जीवन के लिए रक्षा कवच बन सदैव सामने रहे हैं, प्रत्येक पति रहता है, रहना चाहता है। आज, पति की अनुपस्थिति मे यह जो एक छिद्र सहसा ही खुल पडा है, कहाँ है उर्म्मिला मे इतना साहस कि उसे अपनी अक्षम शक्ति लगाकर रोक दे। कितने दिनो की अनावृष्टि और हाहाकार लेकर आज एक दुर्दमनीय प्यास सहसा उभर आई है और उर्म्मिला चाह कर भी, अनवरत चेष्टा करके भी इस प्यास से लड़ नही पाती। नारी है न वह ! समस्त बन्धन-नियम और आचार-व्यवहार को जलांजलि देकर इस तृष्णा के आगे वह विवश होगई है। अपने पर विजय वह नही पा सकती। कहा उसने—उपन्यास की बात पीछे याद करना। पूरियाँ ले आऊँ ? और हाँ, तुम जो आज यहाँ रुक गए तो तुम्हारे मित्र क्या कहते होंगे ? जल्दी खा पीकर चले जाओ। न हो तो कल अपना बोरिया-बँधना यहीं उठा लाओ। जब तक चाहो, रहना। आखिर, मैं भी तो यहाँ अकेली हूँ। ना, ना, मेरी ओर देखो नही यो, मैं सच ही कह रही हूँ ! अतीत इतना व्यर्थ कभी नहीं है। वर्तमान और भविष्य, दोनों अपने स्थान पर सही हैं पर अतीत को भूलकर जो वर्तमान और भविष्य को उजला बनाए रखना चाहता है, वह भूल पर है। तो, कल तुम आ रहे हो न ! हाँ जब तक वे हमारे इस

सम्बन्ध पर कठिन नहीं हो आते, हमारे लिए संकोच का कारण कोई नही है। समझे ?

समझा तो अनूप बहुत कुछ पर इतनी देर से जो सबसे बड़ी बात उसके मन मे उथल पुथल मचाए थी वह यही थी कि अब, इस रात उसका जाना कहीं नहीं हो सकेगा, वह यहीं सो रहेगा। मित्र के जो जी मे आए, समझें, और देवेन्द्र भी, लौटने पर जो चाहे कहे, इस समय बहुत दिनो का सोया हुआ मन जब सहसा ही अँगडाई लेकर उठ बैठा है, तब उसकी उपेक्षा वह नहीं कर सकेगा। वह एक बार साहस कर, आज की रात उर्म्मिला से पूछ लेना चाहता है कि ओ तू! पति की आड लेकर, अनुशासन के नाम पर तू जो अपने को चारो ओर से दबा ढांक, चली चल रही है, वह क्या तुझे सतोष देता है! इस माया से क्षण भर अपने को अलग रख, क्या तू 'तू' नहीं रह जायगी ? तेरी सभावना, तेरा अस्तित्व ही क्या तिरोहित हो जायगा ?

उर्म्मिला अपने मन के उस अतिथि को थोडी देर खडी देखती रही, फिर व्यस्त होकर कहा—क्या सोच रहे हो ?

अनूप—कुछ नहीं। यही सोच रहा हूँ कि जीवन मे धोखा और छल का कितना स्थान है। मै अपने को धोखा दे रहा हूँ, सावित्री को छल रहा हूँ और दुनिया की आँखो मे धूल झोंक रहा हूँ। लोग पाप पुण्य की न जाने कितनी बातें कहा करते है, क्या इससे भी बडा कोई पाप है कि मानव आजीवन

भ्रम और छल में ही अपना जीवन व्यतीत कर दे ! ऊर्म्मि......

यही शब्द देवेन्द्र के मुँह से सुनकर उर्म्मिला ज्यों की त्यों रह जाती थी, अनूप के मुह से निकलते ही उर्म्मिला के मन-प्राण मे यह जाने कैसा मधु घोल गया। वह सिहर उठी जैसे किसी मनचाहे का मादक स्पर्श उसे मिल गया हो। सारी सिर से हट गई थी, उसे उसने सयत कर लिया और उत्सुकता से अनूप का मुँह निहारती रह गई। अनूप कहता गया—ऊर्म्मि, तुम ही बताओ, यह व्यर्थ का भार ढोने की बान क्या हमारा कुछ लाभ कर सकती है? सावित्री जैसी है, वह तुम जानती हो। कहाँ है उसमे इतनी शक्ति कि मुझे बाँध कर रख सके? मेरी भावनाओं को, मेरी प्रवृत्तियों को छू सके! तुम ही क्या देवेन्द्र को बाँध पाने मे समर्थ हो सकती हो? देवेन्द्र ही क्या तुम्हे पा सकता है? यह बधन तो हमारे लिए बना था ऊर्म्मि! पर मुझे इसका कोई दु.ख नहीं, दुनिया मे ऐसा ही होता है। समस्याएँ मानव जीवन के साथ लिपटी हैं और उन्ही को सुलझाने की चेष्टा मानव जीवन है। मुझे यही दु ख है ऊर्म्मि कि चाहने पर भी बधन तोड पाने की सामर्थ्य हममें नही है। हम हाथ पॉव कटा कर पगु हो गए हैं।

रात भीगती आती थी। इसके अतिरिक्त, अनूप की बातों से जो इतने दिनो की दबी ज्वाला उर्म्मिला के हृदय में उभरती आ रही थी उसे भी शान्त करना ही था। अनूप

भावुक अधिक था, उसके नेत्रो मे आँसू की बूंदे झलक रही थीं। नारी यदि अपने आँसुओ से दूसरो को पानी कर सकती है तो स्वय भी दूसरो के आँसू पर पानी हो जाना जानती है। उसी रात को अनूप के सिरहाने बैठकर उसके बालो से खेलते हुए उर्म्मिला कह रही थी—अनूप, क्या तुम्हारा दु:ख मुझ से भी बडा है ? मुझे देखो, छाती पर कुडल मार कर जो सर्प बैठा है उसे किस शान्ति से सह रही हूँ। तुम तो, कुछ भी हो, पुरुष हो। सारे नियम बधन तो मेरे ही लिए है न ! फिर भी, मैं कब तुमसे बाहर हूँ ? जो कुछ तुम माँग रहे हो, वह तो मैं पहले ही तुम्हे दान कर चुकी हूँ। अब और क्या चाहते हो ? मेरे पास जो कुछ है, सब तुम्हारा है।

उस दिन, नीरव रात्रि के उस अधकार मे पाप पुण्य, धर्म-अधर्म, न्याय अन्याय और उचित अनुचित, सब मिल कर एकाकार हो गए। सबको पावो के नीचे कुचल कर उभर आया नर और नारी का चिर-सत्य रूप ! और जब प्रात काल उषा की किरणें पृथ्वी पर उतरी तो उन्होने देखा, कल तक की सती उर्म्मिला आज, दुनिया की भाषा मे, असती हो गई है।

प्राची के लालिमा की थोडी सी झलक उर्म्मिला के गालो पर भी दिख रही थी !

—♦—

## चार

ज्योति ने हाथ का काम एक ओर रखकर, रेडियो की स्विच ऑफ करते हुए कहा—अब यह सब अच्छा नही लगता।

प्रभा सर झुकाए पुलोवर बुन रही थी और गाने मे तन्मय थी। बाजा एकाएक बन्द होने पर उसे जैसे झटका लगा, कहा—यह क्या? बाजा क्यों बन्द कर दिया?

ज्योति ने एक उसाँस लेकर कहा—मन ठीक होने से ही बाजा वाजा सब अच्छा लगता है, यों कुछ भी नही।

प्रभा नासमझ नहीं थी। यौवनागम के साथ साथ उसे इतनी बुद्धि भी हो आई थी कि समझ ले, मन ठीक न होना एक युवती के लिए क्या अर्थ रखता है। फिर, ज्योति जैसी युवती, जिसके अरमान सदा के लिए बुझ गए हो! उसने रेडियो खोलने का हठ नहीं किया, पुलोवर एक ओर रख कुर्सी पर ठगी रही। ज्योति थोडी देर खिडकी के बाहर निर्निमेष, निरुद्देश्य देखती रही, फिर, जैसे किसी उन्माद मे कह रही हो, बोली—प्रभा, मेरी कभी कोई सहेली नहीं रही। किसी से कभी

मन की बात कह नहीं पाई। मायके मे भी, सदा सब से अलग अलग ही रक्खी गई। एक हमजोली की, सखी की मुझे बडी साध है। तुम्हे बेटी न कह कर सखी कहूँ, बुरा तो न मानोगी!

प्रभा—मुझे प्रभा ही कहा करो, बेटी या सखी मे इसमे ज्यादा अपनापन है। तू और तुम मे जो सगापन है वह आप मे ढूढ नही मिल सकता।

ज्योति—अच्छा तो प्रभा, जब तू सखी है तो तुझसे कोई बात छिपाई नही जा सकती। मेरी इच्छा है, मैं कही बाहर जाकर घूम फिर आऊँ, ताकि मन थोडा बहल जाय। यहाँ पडे पडे जी ऊब गया!

व्याह के बाद नई नई आई हुई बहू कहे कि ससुराल मे थोडे ही दिनो मे उसका जी ऊब गया तो कोई भी 'दुनियादार' इसका मर्म समझ ले सकता है, फिर प्रभा ही क्यो न समझती! फिर भी उसने पूछा—क्यो, घर जाना चाहती हो? माँ बाप याद आ रहे हैं?

ज्योति—माँ बाप ने ऐसा तो कोई काम किया नहीं जो उनकी याद की जाय! नरक मे पडने पर आदमी जिधर देखता है उसे यमदूत ही दिखाई देते हैं। उन्हे क्या, चैन की बन्सी बजाते होंगे। मुझ से गला तो छूट ही गया। मै मरूँ या जिऊँ, ...का तो अब मुँह भी नही देखना चाहती। मैं कही और ...ना चाहती हूँ प्रभा! बिल्कुल अकेले, ताकि थोडे दिनो तक ...त होकर साँस ले सकूँ।

इसी बात का आभास तो अनूप प्रभा को देरहा था! व्याह के बाद, लडकी स्वेच्छा से माता पिता का मुँह न देखना चाहे और कही चली जाना चाहे जहाँ मुक्त होकर साँस ले सके, इस बात का अर्थ इतना स्पष्ट है कि कोई समझे बिना नही रह सकता। यह सही है कि ज्योति ने प्रभा को अपनी स्थिति से, मन स्थिति से पूर्णतया अनभिज्ञ जानकर ही यह वाक्य कह डाले थे, पर प्रभा को तो अनूप ने यह आशका पहले ही दिला दी थी। वह इन वाक्यों का मर्म पहचान कर काँप गई। तो क्या भाई की बात सच होकर रहेगी? जो आजतक कभी नहीं हुआ इस घर के शान्त सुश्रृखल जीवन मे क्या अनिवार्य व्याघात पड़ कर ही रहेगा? क्या सच ही अनूप के कहे अनुसार इस 'पाप' की भागीदार वह भी होगी? क्या पिता की दुर्दमनीय वासना इस रूप मे फूट कर निकलेगी? फिर कहाँ रहेगी वह, कहाँ रहेगा अनूप, कहाँ लुप्त हो जायगा अबतक का कष्टसाध्य उपार्जित मान गौरव और धन!

उसे अपने को सयत करना ही था। बात बढ जानेपर उसपर रोध लगा सके, ऐसी सामर्थ्य उसमे नही। उसने धीरे से कहा—तुमने अभी कहा, मुझ से कोई बात छिपाओगी नही। बताओ न, हुआ क्या है? आज ऐसी बातें क्यों कर रही हो?

भावावेग के कारण ज्योति कविता की भाषा में बोलने लगी—हुआ क्या है? क्या बताऊँ क्या हुआ है! जो न होना था जब वही हो गया तो और अब होने को बाकी ही क्या

है ? मैं पूछती हूँ, आग और पानी साथ साथ रख देने से ही क्या वे अपनी प्रकृति छोड, एक दूसरे के मित्र हो जायेंगे ? कृत्रिम रूप से काले किए गए केश और दवाओ के सेवन से कडी की हुई हड्डियाँ यदि अधिक दिनो तक काम न दे सकें तो उनका कोई विशेप दोप नहीं, दोप है उसका, जो .

'जो' के बाद बात जहाँ आकर रुक गई थी वह क्या है, प्रभा समझ गई। इस अप्रिय प्रसग को कैसे टाल दे, वह यही सोचने लगी। तभी ज्योति ने उसका हाथ अपने हाथो मे लेते हुए कहा—प्रभा, आज जो मैं तुमसे कहने जारही हूँ, वह किसी भी युग मे किसी हिन्दू नारी के मुँह से निकलती देखकर ससार ने आश्चर्य किया है । आश्चर्य ही नहीं, इस अनुचित बात का उसे समुचित पुरस्कार भी मिला है। बिना दोपी हुए तो अहिल्या को पत्थर बनना पड़ा, दोपी होकर मेरा क्या हाल होगा, कौन जाने ! फिर भी मैं कह रही हूँ, मेरा तुम्हारे पिताजी से मन नहीं मिलता । उन्हे ही अपना सर्वस्व मानने की साधना, देवता जानने की कल्पना मुझसे बनेगी नहीं। मैं उनकी भक्ति कर सकती हूँ, उनका आदर कर सकती हूँ, उनकी सेवा कर सकती हू, यदि आवश्यकता हो, पर यह प्रेम न होगा। तुम स्वयं देखो, उनका मेरा क्या प्रेम होगा ! ...ीं यदि किसी ऐसे से बाँध दी जाओ तो कितने दिनो ...ृ तपस्या, यह तिल तिल कर मिटते जाने का आयोजन सफल कर पाओगी ?

प्रभा का व्याह अभी होना था। यह बात नहीं कि जो कुछ ज्योति कह रही है वह होकर ही रहेगा, प्रभा किसी वूढ़े के हाथो ही पड़ेगी, पर उस आशका से वह काँप गई। उसने अक्सर अकेले बैठकर सोचा था कि कभी ज्योति यदि अपने दाम्पत्य-जीवन की असफलता की वात उससे कहेगी तो वह समझाएगी, कहेगी कि पति चाहे जैसा भी हो, हिन्दू नारी के लिए देवता ही है। उसकी सेवा करनी ही होगी। उससे प्रेम करना ही होगा, पर इस समय जैसे उसका सारा सोचा हुआ पाठ एकदम से भूल गया। चेष्टा करने पर भी उसके मुँह से कोई वात न कढी, एकटक ज्योति के मुख की ओर देखती रह गई। सच ही तो ! यदि वह किसी ऐसे वृद्ध और खूसट के पल्ले वाँध दी गई तो क्या सुहाग की साधना उससे वन पडेगी ! उस समय क्या वह अपने हृदय को कुचल डालने में समर्थ होगी ? क्या उसका नारीत्व कुछ और. कुछ ऐसा नहीं माग उठेगा जो नहीं मिला, जो पाना अब उसके लिए वर्ज्य हो गया है, जिसके खोज निकालने पर वह कही जायगी कु-ल-टा ! आग को जितना ही दवाकर रक्खो वह उतना ही लहकती है। उसे वश में रखने का तो एक ही उपाय है और वह यह कि उस पर पानी डाल दिया जाय, उसे ठण्डा कर दिया जाय ! सो, प्रभा कुछ नहीं वोल सकी, केवल ज्योति की ओर देखती रह गई।

थोडी देर वाद ज्योति ने प्रभा के मौन को अपनी सहमति जान, कहा—प्रभा, व्याह के पहले घर पर रामायण, महाभारत

पढ़ कर, बड़ी होने पर और गम्भीर ग्रन्थ पढ़ कर और माँ आदि की सीख सुनकर मुझे भी यही लगता था, पति की पूजा करना ही स्त्री का धर्म है। उसके लिए और कोई आधार नहीं, कोई साधन नहीं, संसार में कहीं स्थान नहीं। यहाँ आकर भी मैंने इतने दिनों यही सीख जीवन में उभार कर रखनी चाही, पदे पदे अपने को समझाया कि अब तू पक्षी नहीं, हिन्दू समाज की व्याहृता नारी है, और वह भी आर्थिक दृष्टि से परतंत्र नारी, तेरा रक्षा-कवच बन कर पति ही सदैव तेरे आगे रहेगा, पर सच कहती हूँ प्रभा, मेरे लाख चाहने पर भी मन ने यह स्वीकार नहीं किया। वह बार बार अहर्निश विरोध करता रहा, कहता रहा कि ओ तू नारी! तूने यह सारा बन्धन स्वयं ही बाँध लिया है, तू तो सदैव सर्वथा मुक्त है, मुक्त! और तुझे बन्धन में बाँध कर रखने वाला नर, वास्तव में तेरे आगे कीट पतंग की भी अपेक्षा हीन है, हीन है! यह भ्रम तूने स्वयं पाल रक्खा है कि तू पक्षी नहीं। उठ, आँखें खोल कर देख कि सारा संसार तेरे स्वागत के लिए आँखें बिछाए राह देख रहा है। अपना स्थान तू आप बना, इस विशद विश्व में तेरे लिए स्थान की कमी कभी नहीं होगी! परतंत्रता की बेड़ी काटने का एकमात्र उपाय है अपने पावों आप खड़ी होना! और यही तुझे जानना होगा!

एक साँस में इतना सब कह जाने के बाद ज्योति को लगा, प्रभा कुछ विशेष समझ नहीं रही है। उसने फिर कहा—क्यों

प्रभा, मैं ज्यादा बडी बडी बाते कहने लगी न ? खैर, हटाओ इन बातो को। यो समझो कि इस रौरव से बच कर चलने के लिए मुझे कुछ न कुछ करना ही होगा। जी मे आता है, कही नौकरी ही कर लूँ, पर सोचती हूँ, मुझ मे ऐसा धरा ही क्या है जो मुझे कोई नौकर रक्खेगा ! कही मिसरानी बन कर बैठ रहना और बात है ! पर एकाएक कुछ कर डालना भी सही न होगा, उसके लिए समय चाहिए। और यहाँ रह कर तो मैं कुछ सोच विचार भी नही सकती, पल पल मिथ्या पत्नीत्व की लाज जो ढोनी पड़ती है। इसलिए मै कहना चाहती हूँ कि कही बाहर घूम आऊँ। थोडे दिनो इस लाज की माया से मुक्त होकर सोचूंगी, देखूँ, किसी ओर से जीवन मे तृप्ति और रस ला सकती हूँ या नहीं।

प्रभा को लगा, ज्योति की यह माँग अनुचित नही। उसे याद आया, किसी समय घर मे एक नौकर रक्खा गया था। सारे घर को उसने प्रसन्न कर रक्खा था, केवल प्रभा को ही वह फूटी आँखो नही सुहाता था। उसने उसे हटा देने के लिए पिता से कई बार कहा पर उसकी बात सुनी नही गई। उसने भी तब हारकर पिता को यही धमकी दी थी, या तो यह नौकर ही रहेगा या मैं ही रहूँगी। और इस धमकी ने काम किया, नौकर हटा दिया गया। प्रभा ने स्पष्ट देखा, जब एक नौकर उसके लिए इतना भारी हो उठा था, जो कुछ रुपये पर रक्खा गया था और इच्छामात्र से ही जिसे हटा दिया जा सकता

था, तो यह तो समस्या है पति की, जो नौकर नहीं और जो रुपए पाने के कारण वशवर्ती भी नहीं और जो इच्छामात्र से अलग भी नहीं किया जा सकता। यह समस्या है उस व्यक्ति की जो हिन्दू नारी के जीवन में एक दिन स्वप्न की तरह प्रविष्ट होकर आद्यन्त सत्य बन जाता है, कल्पना की तरह आकर कठोर यथार्थ बन जाता है, अल्हड़ यौवन की तरह प्रवेश कर रो रो कर बिताया जाने वाला शिथिल वार्द्धक्य बन जाता है। इस समय प्रभा की आँखें खिड़की के बाहर कहीं दूरस्थित अज्ञात लोक में स्थिर जमी हुई थी। उसका शरीर ही उस कमरे में था, मन कहीं और था। ज्योति ने उसे विचारमग्न देखकर कहा--प्रभा, मेरा एक काम न कर दोगी। बोलो, करोगी!

प्रभा जैसे फिर उस कमरे में लौट आई हो, बोली--क्या।

यही कि अपने पिताजी से कहकर मेरा बाहर जाने का तय कर दो। मुझ से यह काम न होगा। मैं उनसे कह न पाऊँगी। झूठा पत्नीत्व मेरी जुबान पर ताला लगा देगा। तुम उनसे यों कहो कि तुम भी मेरे साथ जाओगी। तब शायद वे भले ही मान जायें, अकेले मुझे जाने न देंगे। साथ में एक नौकरानी होगी और एक नौकर। बोलो, कहोगी?—ज्योति ने करुण स्वर में पूछा।

प्रभा—यह सब तो ठीक है, पर मैं कैसे जा सकूंगी? मेरा तो इम्तहान···

ज्योति—अरे, यह सब तो कहने की बात बतला रही हूँ ! वास्तव में तुम्हे जाना नही होगा, जाऊँगी मैं अकेले ही। ऐसा कहने से मुझे वे जाने देंगे। यह तो सोचो, उनसे यह छोटा-सा झूठ बोलकर तुम मेरा कितना उपकार करोगी ! कर दो प्रभा, मेरा यह काम कर दो सखी, मै आजन्म तुम्हारी कृतज्ञ रहूँगी।

प्रभा पिघल गई। सखी कहने वाली नारी उसकी माँ है और इस समय इतने दीनभाव से उससे एक छोटे-से कार्य के लिए याचना कर रही है, तो क्या वह उस याचना को ठुकरा देगी ! नहीं, यह उससे न होगा। वह अवश्य इस कार्य में योग देगी, भले ही उसे पीछे इसके लिये भुगतना पडे। जब उस नारी का यौवन और जीवन नष्ट करने में उसने योग दिया है तब उसके छुटकारे के लिए भी वह प्रयत्नशील क्यो न हो ! उसने क्षण-भर कुछ सोचकर कहा—अच्छा, देखो, पिताजी एक दो दिन मे बाहर दौरे पर जाने वाले हैं। कह रहे थे कि लौटने मे चार-पाँच दिन लगेंगे। उस समय तुम आसानी से जा सकोगी। कहने को तो मैं उनसे आज ही कहूँगी। पर यह तो बताओ, जाओगी कहाँ ? या यह भी नहीं बताओगी ?

ज्योति—और किसी को तो न बताती पर तुम्हें बता देती हूँ। मेरा विचार है, मैं थोड़े दिनो इलाहाबाद जाकर रहूँ। वहाँ मेरी दो एक मित्र भी हैं। उनके साथ घूम फिर कर थोड़ा जी बहल जायगा।

प्रभा चुप रह गई। उसने धीरे से उठकर रेडियो की स्विच आन् कर दी। बम्बई से 'रिकॉर्डेड म्यूजिक' का प्रोग्राम चल रहा था, इस समय बज रहा था—'रखियाँ बँधाओ भैया, सावन आया रे।' भले ही यह गाना बेमौसम की चीज़ थी, सावन आने की सम्भावना अभी कही कुछ नही थी, पर जाने क्यो प्रभा की आँखो मे सावन का आभास जरूर मिला। रूठ कर चले गए भाई की याद ने उसे आकुल व्याकुल कर दिया। ज्योति से यह परिवर्तन छिपा न रहा। वह समझ गई, प्रभा के मुख का यह भाव और चाहे जो हो, सुखद नहीं है। हठकर उसने पूछा,—बताओ प्रभा, तुम उदास क्यो हो गई ?

प्रभा ने आंचल से आँसू पोछते हुए कहा—कुछ नही, कुछ नहीं। यह रेडियो बन्द कर दो, अच्छा नही लगता। मन ठीक होने से ही यह सब अच्छा लगता है।

इसी वाक्य से आज की अवाछित बातचीत का आरम्भ हुआ था, इसी वाक्य पर बात आकर रुक गई। बात भले ही रुक जाय, ज्योति को लगा कि अवश्य प्रभा के हृदय मे कोई बात है जिसे जानना ही होगा। कह जाने को तो प्रभा भी कह गई, पर बाद मे सोचा, इस कह जाने के पीछे जो एक सम्पूर्ण [illegible] स दुबका बैठा है, उसका पारायण कुछ मगल न होगा। और ज्योति जानना जरूर चाहेगी। बात टालने की नीयत से उसने तुरन्त ही कहा—यह रिकार्ड, जान पडता है, रेडियो

वालो को बहुत प्यारा है। जब देखो तब रखियां बँधाओ भैया! अरे, इसमें रक्खा ही क्या है?

बात कुछ ऐसी असगत सी हो पड़ी कि ज्योति तो क्या, कोई भी होता तो जानना चाहता। रिकार्ड का बजना और मन ठीक न होना दोनों साथ ही साथ क्या अर्थ रखते हैं, इसका मन ही मन आभास पाकर ज्योति को जानने से कुछ बाकी न रहा। बहुत दिनो से उसके मन में यही बात उभर उभर आ रही थी, पति से पूछने पर वे सीधा-सा, पचासो बार का दुहराया हुआ उत्तर देते—बाहर गया है। और अनूप बाहर रहते हुए भी ज्योति के मन मे स्पष्ट होता जा रहा था। अधिक पूछने का उसका साहस भी नही होता और इच्छा भी नही होती, सदाशिव से—पति से—वह संक्षिप्त उत्तर पा जाने में ही सतुष्ट होती। पति से, पुरुष से छेड़ छेड़ कर बात करने और बात करने के लिए नित नई अवस्थाएँ उत्पन्न करने के लिए जिस मनःस्थिति की आवश्यकता होती है, वह ज्योति के पास कहाँ थी! बात करना ही है, इसलिए किसी से बात करना और बात की स्वत, इच्छा होना, दोनों दो विरोधी बातें हैं। दोनो का उद्गम-स्थान एक है पर दोनो दो रसों से सिंचित हैं एक प्रेम से, दूसरा कर्त्तव्य से! दोनो में कौन बड़ा है, यह तो व्यक्ति ही बतला सकता है!

पर ज्योति आज पूछ कर ही रहेगी। प्रभा उसकी सखी होगई है और सखी के साथ 'संक्षिप्त' उत्तर का प्रश्न भी नहीं

प्रभा चुप रह गई। उसने धीरे से उठकर रेडियो की स्विच आन् कर दी। बम्बई से 'रिकॉर्डेड म्यूजिक' का प्रोग्राम चल रहा था, इस समय बज रहा था—'रखियाँ बँधाओ भैया, सावन आया रे।' भले ही यह गाना बेमौसम की चीज़ थी, सावन आने की सम्भावना अभी कहीं कुछ नहीं थी, पर जाने क्यो प्रभा की आँखो मे सावन का आभास ज़रूर मिला। रूठ कर चले गए भाई की याद ने उसे आकुल व्याकुल कर दिया। ज्योति से यह परिवर्तन छिपा न रहा। वह समझ गई, प्रभा के मुख का यह भाव और चाहे जो हो, सुखद नहीं है। हठकर उसने पूछा,—बताओ प्रभा, तुम उदास क्यो हो गई ?

प्रभा ने आंचल से आँसू पोंछते हुए कहा—कुछ नहीं, कुछ नहीं। यह रेडियो बन्द कर दो, अच्छा नहीं लगता। मन ठीक होने से ही यह सब अच्छा लगता है।

इसी वाक्य से आज की अवांछित बातचीत का आरम्भ हुआ था, इसी वाक्य पर बात आकर रुक गई। बात भले ही रुक जाय, ज्योति को लगा कि अवश्य प्रभा के हृदय मे कोई बात है जिसे जानना ही होगा। कह जाने को तो प्रभा भी कह गई, पर बाद मे सोचा, इस कह जाने के पीछे जो एक सम्पूर्ण इतिहास दुबका बैठा है, उसका पारायण कुछ मगल न होगा। और ज्योति जानना ज़रूर चाहेगी। बात टालने की नीयत से उसने तुरन्त ही कहा—यह रिकार्ड, जान पड़ता है, रेडियो

वालो को वहुत प्यारा है। जव देखो तव रखियां वॅधाओ भैया! अरे, इसमे रक्खा ही क्या है!

वात कुछ ऐसी असगत सी हो पडी कि ज्योति तो क्या, कोई भी होता तो जानना चाहता। रिकार्ड का वजना और मन ठीक न होना दोनो साथ ही साथ क्या अर्थ रखते हैं, इसका मन ही मन आभास पाकर ज्योति को जानने से कुछ वाकी न रहा। वहुत दिनो से उसके मन मे यही वात उभर उभर आ रही थी, पति से पूछने पर वे सीधा-सा, पचासो वार का दुहराया हुआ उत्तर देते—वाहर गया है। और अनूप वाहर रहते हुए भी ज्योति के मन मे स्पष्ट होता जा रहा था। अधिक पूछने का उसका साहस भी नहीं होता और इच्छा भी नहीं होती, सदाशिव से—पति से—वह सक्षिप्त उत्तर पा जाने में ही सतुष्ट होती। पति से, पुरुष से छेड छेड कर वात करने और वात करने के लिए नित नई अवस्थाएँ उत्पन्न करने के लिए जिस मन.स्थिति की आवश्यकता होती है, वह ज्योति के पास कहाँ थी! वात करना ही है, इसलिए किसी से वात करना और वात की स्वत., इच्छा होना, दोनो दो विरोधी वातें हैं। दोनो का उद्गम-स्थान एक है पर दोनो दो रसों से सिंचित हैं, एक प्रेम से, दूसरा कर्त्तव्य मे! दोनो में कौन वडा है, यह तो व्यक्ति ही वतला सकता है!

पर ज्योति आज पूछ कर ही रहेगी। प्रभा उसकी सखी होगई है और सखी के साथ 'सक्षिप्त' उत्तर का प्रश्न भी नहीं

है! ज्योति ने पूछा—क्यो प्रभा, अनूप कहाँ हैं?

प्रभा चौंकी, उसकी चोरी पकड गई थी! कहा—मैं क्या जानू? कहीं वाहर गए हैं।

ज्योति—ना सखी, भूठ न वोलो! कहीं गए हैं, यह सही है पर रूठ कर गए हैं, यह भी कहो! 'उन्होंने' ही मुझे वताया है कि मेरे कारण वे रूठ गए हैं। कहाँ गए हैं, वताओ न!

प्रभा—तो, पिताजी से ही पूछो।

ज्योति—उन्हे तो मालूम ही नही, पर तुम्हारे पास तो पत्र जरूर आते होंगे!

प्रभा—मेरे पास एक भी पत्र नहीं आया!

ज्योति—सच कहती हो?

प्रभा—और क्या भूठ? मुझे वे क्यो लिखने लगे? तुम अभी भैया को जानती नहीं हो। वात के पीछे वे वाप, माँ, वहन, स्त्री सव छोड़ सकते हैं। धुन के वड़े पक्के हैं।

ज्योति—जानती नही, तभी तो जानना चाहती हूँ प्रभा! सोचती हूँ, माँ का तिरस्कार कोई ऐसे वैसे, साधारण भाव से नहीं कर सकता। फिर, वहू को वह छोड गए हैं। उसे कितना दुःख होगा, यह क्या मैं समझ नहीं सकनी प्रभा! उस विचारी का मुँह देखकर मुझे रुलाई आने लगती है!

अनूप जिस क्षण भावावेश मे सव कुछ छोडछाड कर जा रहा था, उस समय भी प्रभा ने अन्तिम घात यही कही थी—भौजी को भी छोड कर चल दोगे क्या? पर उस भौजी

की वास्तविकता क्या है, यह वह खूब समझती थी और वह भौजी अनूप के जीवन में कितना घुल मिल पाई है, यह भी वह जानती थी! युवक अपनी भावी पत्नी के लिए मन में धूल के घरौंदे बनाता है, परवर्त्ती जीवन मे उस घरौदे को दृढ़, सत्य और भरापुरा देखने की साध उसके सपनो को भी सजग बनाती रहती है पर एक दिन वही स्वप्न टूट कर भग हो जाता है। हिन्दू समाज में कर्त्तव्य की बड़ी महिमा है और इसी को जीवन्त बधन मान कर, तब, पति पत्नी साथ साथ चलते हैं। बहू ने, प्रभा की भाभी ने, अनूप को क्या से क्या बना दिया है, यह किसी से छिपा नही! आश्चर्य तो यह है कि अनूप स्वय सबसे, निर्लज्ज भाव से यह सत्य कहता रहता है। तभी उसकी पत्नी के मन में इस बात को लेकर बडी व्यथा है। और अब तो वह कभी कभी कह भी देती है—'न पड़ी होती तुम्हारे हाथ में तभी अच्छा था। न मिलता मुझे कोई लेखक और कवि, कम से कम किसी इट्रेस पास के घर तो जरूर गई होती! और वहाँ मेरा इतना निरादर तो न होता! और, इस बात पर अनूप चुप रह जाय इसके अतिरिक्त और क्या कर सकता था? अपने कवि और लेखक और इसीलिए अनिवार्यतः भावुक होने के सत्य को जिस तरह वह झटकार, दूर नही फेंक दे सकता, उसी तरह, अब, अपने इट्रेस न पास होने के सत्य का पारायण सुन कर भी, वह कुछ कर पाने से विवश था! पर, उसे पूरी तरह पढ़ पाने की सामर्थ्य पहले प्रभा मे थी, फिर सदाशिव में

इस समय ज्योति के आगे इन बातों को दुहराने की आवश्यकता नहीं! प्रभा ने उत्तर दिया—रुलाई तो आनी ही चाहिए! जब से गए हैं, एक पत्र भी नहीं भेजा। और किसी का ख्याल न करते, कम-से-कम उनका तो कुछ ख्याल करना ही चाहिए था!

ज्योति—मुझे ऐसा मालूम होता है प्रभा, कि मैं ही इन सारी खुराफातों की जड हूँ। न मैं आती, न यह सब होता! सोचो तो, तुम्हारे पिताजी का जीवन दुखी हुआ, जिस आशा से मुझसे विवाह किया था वह पूरी होने का लक्षण नहीं, अनूप घर से निकल गया, बहू बिचारी को पति का वियोग सहना पडा और मेरी तो बात ही न पूछो! यह सब क्यों! एक बेमतलब के काम के लिए, जिसके बिना भी काम चल सकता था! मायके मे चुरा-चुरा कर जो उपन्यास पढती थी उनमे एक विवाह के पीछे उठ खडे होने वाले अनगिनत अपराधो का वर्णन देखकर सोचती थी, ये लेखक पागल तो नहीं हो गए हैं! जरा-जरा-सी बात को बढ़ा चढ़ाकर कहने की इनकी आदत पड गई है! पर अब देखती हूँ, लाख दबाने पर भी विवाह की बुराइयां उभर कर ऊपर आ ही जाती हैं। समाज ने.. ...

अनूप की बहुत दिनो की सिखाई बात प्रभा के कण्ठ से फूट पड़ी—-समाज का नाम न लो। समाज ने कुछ नहीं किया है, सब हमने अपने से किया है। समाज की आड़ मे अपनी

कायरता दबाने से कोई लाभ सभव नही। उसके लिए स्वयं चेष्टा होनी चाहिए। समाज शक्तिसपन्नो का दास है, शक्ति-हीनो का स्वामी !

दीवाल पर लगी हुई घडी ने इधर दस बजाए, उधर बँगले के पोर्टिको मे सदाशिव की कार आकर खडी हुई। सिनेमा से लौटते समय उन्हे यह विश्वास होगया था कि ज्योति जागती हुई उन्हे नही मिल सकेगी। वे घर पहुँचेगे, खाना खायँगे और चुपचाप जाकर सो रहेगे। अपने विवाहित जीवन के इस नित्य के प्रोग्राम पर उन्होने गम्भीरता-पूर्वक कभी सोचा न हो, यह बात नही, पर उनका कोई वश न था। पति नामधारी प्राणीमात्र की स्वाभाविक इच्छा भी उनके मन मे नही उठ पाती थी, वे आएँ तो कोई उनकी प्रतीक्षा करता रहे, किसी की आखें ऐसी हो कि विना उनके आए नींद भी उनमे न आए और कोई हो जो उनसे मीठी झिडकी मे कहे—इतनी रात कहाँ रह गए ? हटो, मुझे यह सब अच्छा नही लगता ! और वह उस तिरस्कार का रस लेते हुए उत्तर दे--अभी रात कहाँ हुई, अभी तो .. और फिर . . । वृद्ध कलेवर को भी कभी कभी स्पर्श से सिहरन होती है, पर उन्हे तो, उनके भाग्य मे तो यह भी नहीं था ! मन मे यह सब भावनाएँ यह सब साध रहते हुए भी वे प्रकट नही कर पाते थे, दबा जाते थे। जितना मिल रहा है, उसी की खैर मनाते हुए चले जाने वाले भिक्षुक की भाँति, दाता ज्योति को वे उसके दान के लिए मन ही मन सराहते।

कभी कभी तो उनके यह भाव इतने उग्र हो पड़ते कि वह सोचते, उन्हें प्यार करने वाली, उन्हें ही अपना सब कुछ जाननेवाली स्त्री यमदूत से भी तो प्यार कर सकती है! मृत्यु को भी तो अपना सर्वस्व मान सकती है!

पर वे पति थे! घर में आते ही, ज्योति के रूप में अपनी पत्नी को जागते देख और प्रभा को बातें करते देख उनके भीतर कहीं पुरुष का चिर सत्य भाव खेल उठा। उन्हें लगा, ज्योति जैसे सचमुच ही उन्हें चाहती है, इस घर को चाहती है, घर के प्राणियों को प्यार करती है! प्रभा के साथ इस तरह घुल-घुलकर बात करने का क्या अर्थ हो सकता है? यही तो! और उस पल सदाशिव के मन में अपने भविष्य जीवन का जो उज्वल चित्र खिंच आया वह अनूठा था, एक युवक भी सम्भवत. वैसा चित्र खींच पाने में समर्थ न होता! चित्र में एक गगनचुम्बी भवन था, चारों ओर से अन्त पुर से जनरव निकल रहा था, एक सुसज्जित कमरे में सुन्दर पलँग पर सदाशिव लेटे थे, ज्योति पास ही बैठी थी और उसकी गोद में, पाँवों के पास कई शिशु . . .सदाशिव इस कल्पित स्वप्न में ऐसा तन्मय हुए कि कमरे के द्वार पर पहुँच, ठिठक रहे। ज्योति उनके सामने थी, उनके स्वप्न की रानी!

प्रभा देखते ही बोल उठी--बाबूजी!

सदाशिव आसमान से जमीन पर उतर आए, बल्कि बरबस उतारे गए। ज्योति ने आँचल माथे पर खींच लिया, अबतक

का उसका बालिका-स्वभाव और पुस्तक के पन्नों की तरह खुला हुआ रूप पल मात्र में कहाँ तिरोहित होगया और बाबूजी शब्द के साथ ही प्रभा की सखी ज्योति, सदाशिव की पत्नी और इसीलिए प्रभा की माँ कैसे होगई, यह नारी-स्वभाव के जानकर भली तरह जानते हैं। न जानने की कमी भी दूर हो सकती है, केवल नारी जाति का आद्यन्त इतिहास देख जाने की जरूरत है।

ज्योति प्रभा के साथ ही उठ खडी हुई। मुख पर घूँघट नहीं था, लाज मन मे थी। पति के सामने वह खडी है और वह भी उनकी युवती पुत्री की उपस्थिति में! सदाशिव ने एक बार मुग्ध नेत्रों से उसकी ओर देखा, फिर भीतर आते हुए बोले—हाँ प्रभा!

प्रभा—आपने बडी देर कर दी। इतनी रात तक कहाँ रह गए?

यह क्या! यही प्रश्न तो वे ज्योति के मुख से सुनना चाह रहे थे। उनका सपने का भवन टूटता-सा लगा! फिर भी वे बोले—हाँ, जरा सिनेमा चला गया था! खाना मँगाओ प्रभा!

प्रभा ने उपयुक्त अवसर पाया, ज्योति की ओर देख कर कहा—तुम जाओ, खाना मंगाओ। मुझे बाबूजी से एक बात पूछनी है!

और इसके साथ ही ज्योति को एक आँख का दबा संकेत! ज्योति चुपचाप बाहर निकल गई!

सदाशिव ने हंस कर कहा—क्या बात है प्रभा ! ऐसी कौन सी बात है ?

प्रभा छोटी बालिका की तरह सदाशिव के गोद में ढह पड़ी, कहा—बाबूजी, मैं माँ के साथ दो तीन दिन के लिए बाहर घूमने जाना चाहती हूं। जाऊँ ?

सदाशिव—क्या ?

प्रभा—माँ के साथ मैं दो तीन दिन के लिये बाहर जाऊंगी। आप कह दीजिए।

सदाशिव—अरे, कहाँ जायगी पगली। बाहर जाकर क्या करेगी ?

प्रभा—माँ कहती हैं, इलाहाबाद में उनकी एक दो सखी हैं। एक का पत्र आया है। उन्हें बुलाया है। पर माँ अकेले नहीं जाना चाहती। मुझे ले जाना चाहती हैं। एक नौकर और एक नौकरानी साथ जायँगे। कह दीजिए बाबूजी।

सदाशिव दम भर सोचने लगे, शायद दो युवतियों की अकेली यात्रा और उसका औचित्य वे समझ रहे थे ! पर प्रभा ने उन्हें सोचने नहीं दिया, मचल कर बोली—बाबूजी, आप सोचते क्या हैं ? एक काम कहा तो न जाने क्या सोचने लगे ! दो ही तीन दिन की तो बात है। फिर, नौकर तो साथ जा ही रहे हैं ! अगर आपने न जाने दिया तो मैं आपसे बोलूँगी भी नहीं ! जाइए !

युवती प्रभा के इस बचपन पर सदाशिव मुग्ध हुए बिना न रह सके। और उसी मुग्धता मे उनके मुँह से अनायास निकल गया—तो जाओ न ! मैं मना थोडे ही करता हूँ !

प्रभा का रोम रोम प्रफुल्लित हो उठा। उसका खेला हुआ नाटक इतना सफल होगा, इसकी उसे कल्पना भी नही थी ! 'मेरे अच्छे बाबूजी'—कह कर थिरकती हुई प्रभा न जाने कौन सा गाना गुनगुनाती कमरे के बाहर भागने लगी ! कहीं यहाँ ठहरने पर और कोई व्याघात न उपस्थित हो जाय ! ज्योति की सहायता कर सकने का इतना बड़ा अवसर कही उसके हाथ से निकल न जाय ! पर वही हुआ—होते होते बचा ! वह कमरे के द्वार तक ही पहुँची थी कि पीछे से सदाशिव का स्वर सुन पडा—पर, सुनो तो !

ये तीन शब्द, लगा कि प्रभा की पीठ मे खुभ गए हैं ! वह लौट पडी, पास आकर उतरे हुए मुख से पूछा—कहिए !

सदाशिव—मैं पूछता हूँ, आखिर यह जाने की तयारी कब है ?

प्रभा—जब आप दौरे पर चले जायँगे।

सदाशिव—ठीक है, ठीक है। यही मैं चाहता था। मेरे लौटने तक तुम लोग भी वापस आ जाना।

ज्योति खाना लेकर कमरे में आई। प्रभा के नेत्रों का फिर एक अलक्ष्य सकेत, और ज्योति ने खाना एक छोटी मेज पर

लगा दिया। प्रभा बाहर निकल गई। उसका नाटक सफलता के साथ समाप्त हुआ!

और उस रात ज्योति ने पहले पहल सदाशिव का बिछावन अपने हाथो बिछाया और सिरहाने बैठ उनका माथा दबाती रही। तबतक, जबतक उनका वृद्ध शरीर निद्रा की गोद मे नहीं जा रहा।



## पाँच

युग युग से सोई पडी श्रमिको की शिथिल, अकर्मण्य जाति को अपने तीखे, सतेज वचनो से क्षणभर के लिए जगा कर, और आखों मे नवसिखुए नेताओ का विजय गर्व भरे देवेन्द्र उस दिन तडके ही जब अपने घर के सामने मोटर से उतरा, उस समय भी अनूप और उर्म्मिला अपने अपने कमरो में पड़े सो रहे थे। वहिर्जगत से अलग, वहुत रात तक प्रणय के आदान प्रदान के वाद, स्वभावत ही इस समय मीठी नींद ने उन्हें आवृत कर रखा था। और तभी, कल्पना मे ठोस सत्य जैसा, देवेन्द्र का आगमन हुआ। सौभाग्य से देवेन्द्र के और दुर्भाग्य से उन दोनो प्रणयातुर युवक युवतियों के, पिछली रात वाहर का द्वार खुला रह गया था। कुशल यही थी कि इतना खुला आमन्त्रण पाकर भी, ऐसे अवसरो से लाभ उठानेवालो ने इस ओर ध्यान नही दिया। देवेन्द्र का माथा उसी समय ठनका जब मोटर से उतर कर, डयोढ़ी पर खड़े हो, एक हाथ किवाड के पल्ले पर रख कर वह साथ आए, ग्राम-नेताओं से विदा के वाक्य सुन रहा था। किवाड़ हल्के शब्द के साथ खुल गए,

उन्हीं के साथ ही जैसे देवेन्द्र के मनश्चक्षु भी ! यह क्या बात है ! और दिन तो ऐसा नहीं होता था ! द्वार जान बूझ कर खुले छोड दिए गए हैं या भूल से ही खुले रह गए हैं ! यदि जानबूझ कर खुले छोड़े गए तो इसका प्रयोजन क्या था ? और यदि भूल से खुले रह गए तब भी, यह बहुत बुरी बात है ! इतनी असावधानी, मैं भी घर पर न था ·· सोचना चाहिए था··· ·· ख़ैर, अनूप तो होगा ही ! शायद ····

सोचते सोचते वह भीतर चला आया था। ऊपर चढते ही उर्म्मिला के कमरे मे जो दृश्य उसने देखा वह उसे चकित कर देने को पर्याप्त था। उर्म्मिला की सेज पर··जिस पर कितनी ही रातों मे, लगभग प्रतिदिन रात को वह उसके साथ प्रणय-केलि किया करता था, जिसमे उसके कितने अरमान, कितने प्रणयाभियोग, कितने चुम्बन, आलिगन भरे पड़े थे, इस समय अनूप मीठी नींद मे सोया पडा था। अनूप ··जो उसके लेखे उर्म्मिला का कोई नही, भाई नही, बन्धु नहीं, पति नही, ना, कुछ भी नहीं ! और उर्म्मिला की एक सारी, हाँ, देवेन्द्र को याद आया, यही सारी वह कल सन्ध्या को उसके गाव जाने के समय पहने हुए थी, उसी पलग पर पायताने अस्तव्यस्त पडी थी ! जो तकिया अनूप लगाए था उस पर, उर्म्मिला के हाथ के कढ़े हुए लाल रेशम के शब्द—स्वीट मेमरीज, देवेन्द्र की आंखों मे अग्निशलाकाओं की भांति खुभ गए। यही तकिया लगाकर देवेन्द्र ने कितनी ही रातो को सुख स्वप्न देखे हैं, कितने ही स्वप्न

राज्यो की अवतारणा की है, कितने कल्पना के घरौदे बनाए और बिगाडे हैं ' आज उसी तकिए पर, ठीक उसी दशा मे अनूप का माथा टिका हुआ है ! इतने से ही बस नहीं, पलग के पास की तिपाई पर रक्खे हुए फूल और तश्तरी के पान जैसे मुँह चिढ़ाकर देवेन्द्र का उपहास कर रहे हो ! कह रहे हो— पागल, मूर्ख, किसान मज़दूरो की दशा दो दिन बाद भी ठीक हो सकती है, पर यह क्या है ! किसान मज़दूर चाहे जो कुछ भी हो, नशे में धुत्त होकर वह भले ही मरने मारने पर उतारू हो जायँ, पर विश्वास का मूल्य वे दे सकते हैं। इस तरह विश्वास की हत्या करने मे उन्हे भी लज्जा आती है !

सच ही तो ! यह विश्वासघात नही तो और क्या है ? प्रेम का बधन विश्वास पर ही तो स्थिर है ! अनूप पर और उर्म्मिला पर देवेन्द्र को विश्वास था, तभी वह दोनो को एकदम अकेले छोड़ गांव चला जा सकता था ! जब अपने ही इस तरह विश्वासघात पर उतर आएं तो दुनिया कितने दिनों चल सकेगी ? पलभर मे ही सारा रहस्य देवेन्द्र के सामने खुल गया। द्वार खुला रह जाना, पलग पर पडी हुई सारी, तिपाई के फूल, स्वीट मेमरीज अकित तकिया और उस पर टिका हुआ अनूप, सब जैसे एक ही सूत्र में बँधे हुए थे ! बहुत दिनों पहले की दोपहरी भी उसके सामने स्पष्ट हो पड़ी जब उर्म्मिला ने सहज साधारण भाव से उठकर अपना रूमाल अनूप के स्वेदबिन्दुओ के लिए अर्पण कर दी थी और बदले मे धन्यवाद सुनकर शात

हो, बैठ गई थी। देवेन्द्र किकर्त्तव्यविमूढ़ हो वहीं बैठ गया।

तभी वहाँ आई उर्म्मिला! सद्यःस्नान से खिला हुआ मुख और उस पर घुघराले बालो की लम्बी राशि! गले से मधुर स्वरो मे निकलती हुई रागिनी—पलकन पग चूमूँ आज पिया के, पर द्वार पर आते ही जैसे उसकी रागिनी थम गई वैसे ही वह भी ठिठक गई। पलकन से पिया के पग चूमने की साध पर जैसे झटका लगा, सामने अकल्पित रूप मे देवेन्द्र स्थित था। उसके मुख मे केवल इतना ही निकला—आप! पर ....

देवेन्द्र को यहाँ, अनूप की उपस्थिति मे नाटक करना स्वीकार नही था। हाथ के सकेत से उसे चुप कर, बाहर चलने का इशारा किया और आप उठकर बाहर चला आया। उर्म्मिला पीछे पीछे आई। पूछा—आप! लेकिन आप आए कैसे? दरवाज़ा तो .....

देवेन्द्र ने बात काट कर कहा—हाँ, तुम्हारे दुर्भाग्य से खुला रह गया था! पर कोई बात नहीं, जिस तरह दरवाज़ा खुला रहने से मैं सहज ही भीतर चला आया वैसे ही एक और वस्तु सहज ही मिल गई।

उर्म्मिला जैसे शकित हो उठी—क्या?

देवेन्द्र—जाने दो उस बात को। अनायास ही वह हाथ लग गई है! बात बढ़ाकर उसे नष्ट नहीं करना चाहिए।

ने पूछा था—कहां जा रहे हो ? खाने के समय तक जरूर आ जाना, नहीं इनके खाने के समय कोई न रह जायगा !

इनके से मतलब था अनूप का। तब, इसे समझ, जो उत्तर देकर देवेन्द्र बाहर चला गया था, वह उसके जाने के बाद भी उर्म्मिला और अनूप दोनो को जैसे खा जाने लगा। उसने कहा था—मेरा कुछ ठीक नहीं कब तक आऊँ। पर इनके खाने में विघ्न न पड़ेगा—मेरे रहने से ही विघ्न की अधिक सम्भावना है। अगर कल रात बिना मेरे रहे इनका अतिथि-सत्कार सम्पूर्ण हो सकता है, तो आज भी इसमे व्याघात न होगा। इतना समझने की बुद्धि मुझमे बाक़ी है।

वह तो यह कह कर चला गया पर इस बात से उर्म्मिला को और अनूप को जो कुछ वह समझा गया उसने दोनो को सिहरा दिया ! बहुत देर तक दोनो चित्रलिखित-से खडे रह गए, और तब, जैसे एक बहुत भारी बोझे को सिर से उतारते हुए, अनूप कह उठा—ऊँह, होगा भी। न जाने यह पागल क्या क्या कह गया, मैं तो कुछ नही समझा !

अनूप समझे या न समझे, उर्म्मिला सब कुछ समझ गई थी ! स्त्रियो में इस विषय में एक सहज बुद्धि होती है, पुरुष वहाँ तक पहुँच भी नहीं सकते ! और समझ कर ही, अनूप की बात सुनकर उर्म्मिला जैसे भक्-से जल उठी ! कितने सहज रूप से वह यह बात टाल रहा है ! पुरुष है न ! उसने चिढ कर कहा—अच्छा हुआ जो तुम नहीं समझे ! मैं समझी हूँ और

समझ कर ही कहती हूँ, तुम यहाँ से चले जाओ। यहाँ रहने से अपना अनिष्ट तो करोगे ही, मुझे भी ले डूबोगे! अभी 'उन्हें' तुम नहीं जानते।

किसी स्थान पर जब बिजली गिरती है तो आसपास का सब कुछ नष्ट कर जाती है। अनूप पर जैसे बिजली गिरी और वह अवाक् हो रहा। उसकी मति गति, सब जैसे हर गई हो। पल भर की उसकी भावुकता ने कितना बड़ा अनिष्ट कर डाला है, क्षण भर की अपनी उत्तेजना में एक नारी के जीवन्त सुख-शान्ति पर कितना बड़ा आघात उसने पहुँचाया है, मानव के एक सहज साधारण कार्य से अविश्वास और अपमान की कितनी बड़ी ज्वाला उसने सुलगा दी है, यह सोचकर वह जैसे बिछावन पर बैठे ही बैठे लज्जा से पृथ्वी में धँसा जाने लगा। मित्र का क्रोध और विरोध वह भले ही सह ले पर यह जो चुपचाप उसके आगे पीछे सदैव एक नारी का अभिशाप मँडराया करेगा, उसे वह कैसे सम्हालेगा! अनूप ने, हारे हुए, घबराए हुए और शर्माए हुए अनूप ने, एक ठण्डी साँस ली और उर्म्मिला की ओर आँखें उठा दीं—सामने दो अग्निदीप्त आँखें और काले बालोंवाले माथे के बीच एक लाल रक्त की धारा चमक उठी। अनूप पागल हो उठा। वह विवाहिता नारी है। वह जिस समय पहले पहल उसके सामने अपना मुक्त प्राण और मुक्त यौवन लेकर आई थी, उसी समय क्यों नहीं उसने वापस लौटा दिया? क्यों नहीं उस अछूती

युवती को अपने तक बढ़ आने से रोका ? क्यो उसके प्यार को प्रोत्साहन दिया ? और, क्यों इस तरह उसका सर्वनाश किया ? अब, जब सब ओर से निराश होकर, प्यार का अवलम्ब खोकर उस अभागी युवती ने बन्धन में ही सुख मानकर जीवन यापन का मार्ग खोज लिया तो उसके लिए पुन: रौरव का द्वार खोलने मे मैंने किस पुरुषार्थ का परिचय दिया ? यह सत्य है, कठोर सत्य है। उर्म्मिला पर यदि उसके कारण अन्याय अत्याचार हुआ, यदि उसके जीवन में तिरस्कार और लांछन की ज्वाला धधकी तो उसकी प्रत्येक लपट में वह तिलतिल कर जलेगा, भस्म होगा और राख हो जायगा ! उसने कहा—ऊर्म्मि, मुझे क्षमा करो। कल रात मै पशु बन गया था। और तुमने मेरे पशुत्व की आग में ईंधन का काम दिया। जो कुछ हो गया वह बदला नही जा सकता। अब अच्छा यही होगा कि मैं यहाँ से चला जाऊँ। जहाँ रहूँगा, तुम्हारे कल्याण की कामना करता रहूँगा।

पर उर्म्मिला को एक बात सूझी है ! चला तो जायगा अनूप, पर अपने पीछे सन्देह का जो एक भयकर भूत छोड जायगा वह तो सदैव उर्म्मिला के पीछे, साए की तरह लगा ही रहेगा ! तब उसकी स्थिति क्या हो रहेगी ? देवेन्द्र को मन-माना अवसर मिलेगा, उर्म्मिला पर अन्याय, अत्याचार की तब कहीं सीमा न रहेगी और उस बेचारी को यह सब अकेले ही झेलना होगा। यह सतोष भी नहीं रह जायगा कि जिसको

लेकर यह सब हो रहा है वह कहीं पास ही है, उसकी यातना का कुछ अंश, मानसिक ही सही, वह भी बँटा रहा है! अनूप यदि रहेगा तो देवेन्द्र भी शायद खुल कर न खेल सके! उर्म्मिला उस समय की स्थिति की कल्पना से सिहर उठी, तभी उसने कहा–पर जाओगे कहाँ?

कहाँ जाऊँगा? इतने बड़े शहर में मुझे स्थान मिलना कठिन न होगा।"

और मैं क्या करूँगी?

उर्म्मिला, दीपक की लौ कभी कभी टेढ़ी होकर भी जलती है, पर उसका ऊर्ध्वमुखी होकर जलना भी कोई रोक नहीं सकता। यह उसका अधिकार है। तुम्हारा एक बना बनाया समाज है, उसमें हर एक की ज़िम्मेदारी हर एक पर है, उससे बचकर जाना भी चाहो तब भी न जाने पाओगी। नारी सती बनना चाहे तो कोई कुछ न कहेगा। देवेन्द्र भी पुरुष है, उसके पास मस्तिष्क के साथ साथ हृदय भी है। वह तुम्हारी एक भूल के लिए तुम्हें क्षमा कर देगा। पर मेरा क्या? तुम्हारे समाज के बने बनाए नियमों से, स्वेच्छा से, मैं अलग जा पड़ा हूँ, समाज मुझ से कुछ विशेष आशा भी नहीं रखता, ऐसी दशा में मैं कहीं भी चला जाऊँ, उसका कुछ हित-अहित नहीं। मुझे चला ही जाने दो ऊर्म्मि, संभव है, यहाँ रहने पर मैं–मेरा पुरुषत्व, मेरे मानव होने का अभिशाप फिर मुझ पर विजयी हो जाय! देवता होने की कल्पना ही मुझे जाने कैसी लगती है,

और सबके साथ मिल कर चलने के लिए मुझे बरबस देवता होना ही होगा।"—अनूप ने भावावेग मे कह दिया।

आगन्तुक विपत्ति की रूपरेखा आँखो के सामने होते हुए भी उर्म्मिला ने देखा--अनूप जो कह गया है, वह व्यर्थ नहीं। वह मानव है, और उस पर पुरुष, और यह मानव की प्रवृत्ति बोल रही है, अभ्यास कराया गया स्वभाव नही। उसे लगा, कल रात का अनूप का कृत्य पाप नहीं, और चाहे जो हो। अनुचित कहा जा सकता है, पर उचित अनुचित की सीमा ठहराने वाला कोई दूसरा कैसे हो सकता है! यह तो व्यक्ति की अपनी परिस्थितियो पर निर्भर है। उसने स्पष्ट समझा, अनूप ने पल भर के पागलपन मे उसके माथे पर लगे सिन्दूर-बिन्दु का अपमान भले ही किया हो, नारीत्व का तो अपमान नही हो किया है। अनूप को जो उसने कडी बात कह दी थी, उसका मार्जन कैसे हो, यह वह नहीं सोच सकी। केवल इतना ही कहा—तो, मैंने तो तुम्हें कुछ कहा नहीं! तुम व्यर्थ सोच न करो। तुम्हे देवता बनने को कौन कहता है? मैं भी देवी नहीं, पहले स्त्री हूँ।

इसीलिए तो कहता हूँ कि मुझे चला जाना होगा। नर और नारी के चिर सत्य आकर्षण के आगे समस्त सांसारिक बन्धन दब जायंगे। उससे अनर्थ ही होने की संभावना है।

जी में तो आया उर्म्मिला के कि कह दे, हो जाय अनर्थ, आ जाय प्रलय, सब कुछ तहस नहस हो जाय, तुम रहो और मैं, पर कह नहीं सकी, संस्कारो ने मुँह पर ताला लगा दिया।

अनूप कहता गया—मुझे चले ही जाने दो। पति पत्नी के रूप के अलावा एक युवक युवती का और किसी रूप में एक साथ रहना किसी को सहन न होगा। स्वय हमसे ही यह आगे नहीं मिल सकेगा। जानती हो, जवान होने पर भाई बहन भी हमारे यहाँ अलग हो रक्खे जाते हैं। मानव की दुर्बलताओ का अन्त नही, और यही सब सोच समझ कर ये नियम बनाए गए हैं। मैं सामने न रहूँगा तो दुर्बलता दबी ही रहेगी, उभरने का अवसर उसे नही मिलेगा।

रात को देवेन्द्र से अनूप ने कहा—देखो, कल मैं कहीं और चला जाना चाहता हूँ। आज दिन भर सोचकर मैं इसी निर्णय पर पहुँचा हूँ। तुम्हें यहाँ मेरे कारण कष्ट होता होगा। और फिर जब यहाँ स्थायी रूप मे रहना ही है तो कब तक किसी के यहाँ पडा रहूँगा? प्रबन्ध तो कही करना ही होगा।

देवेन्द्र ने अनूप की मुखमुद्रा पर नज़र गड़ाए हुए कहा—प्रबन्ध तो कही करना ठीक है, पर कष्ट की बात ठीक उलटी है। तुम्हारे कारण मुझे नही, मेरे कारण तुम्हें कष्ट है, यह मैं समझता हूँ।

बात गम्भीर हो रही है, उर्म्मिला समझ कर वहाँ से उठ गई। अनूप ने पूछा—मैं समझा नही! तुम्हारे कारण मुझे क्यों कष्ट होगा?

देवेन्द्र लाख समझदार हो, हज़ार उदार हो पर मानव तो वह है ही। अब अपने को न रोक सका, कहा—बच्चे न बनो

अनूप ! मित्रता का जो प्रतिदान तुमने दिया है, वह तुम्हारे ही योग्य था। मैं इतना नासमझ नहीं जो इतना भी न समझूँ ! तुम्हारा गला नहीं मरोड़ दे रहा हूँ, यही कल्याण समझो। अपनी जिस भावुकता पर तुम्हें इतना नाज़ है, उसका अर्थ शायद यही होता है कि दूसरों की पत्नियों पर नज़र डाली जाय ! यही न ! यह भावुकता नहीं, इसे मैं नीचता कहता हूँ अनूप !

पलभर में ही अनूप के मानस-नेत्रों के सामने कल रात का सारा कांड, साथ ही आगन्तुक भविष्य का चित्र खिंच गया। वह अपराधी है अपने प्रति, उर्म्मिला के प्रति, देवेन्द्र के प्रति, समाज के प्रति और. ...और..... ! देवेन्द्र कहता गया—यही तुम्हारे छोटे मोटे दर्द हैं न अनूप, जो तुम्हारे अन्दर टीस टीस उठते हैं ! कायर, इसीलिए देश के बड़े दर्द में तुम अपने को पूरी तरह डुबा नहीं पाते ! तुम्हें डूब मरना चाहिए अनूप ! खैर, तुम्हें उपदेश देने को जी नहीं चाहता। अच्छा हो, तुम कहीं और चले जाओ। कल क्यों, आज ही, इसी वक्त ! रह गई ^ ^ल, सो उसे मैं देख लूँगा ! न होगा, इस एक अपराध के ..र उसे क्षमा भी कर दूँगा, पर तुम.. तुम्हें क्षमा नहीं कर कता ! मेरे सामने से हट जाओ।

बात को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं। अनूप उसी रात वहाँ से भी चल दिया। जब तक आँखों से ओझल न हो गया, उर्म्मिला की दृष्टि पथ पर बिछी रही।

छ

गाडी पर सामान रक्खा जा रहा है। ज्योति वाहर जा रही है। सदाशिव दौरे पर चले गए हैं, यह अच्छा ही है, नहीं तो ज्योति यो अकेली, नौकरो के ही भरोसे न जा पाती। प्रभा और सावित्री ज्योति के पास ही खड़ी हैं। ज्योति ने देखा, सावित्री की आँखो मे आँसू झलक रहे हैं। बोली—पागल, इसमे रोने की क्या बात है। मैं कोई हमेशा के लिये थोड़े ही जा रही हूँ। जल्दी ही आऊँगी पगली !

इन थोड़े से दिनों में सावित्री ने ज्योति से अपनापा जोड़ लिया है। उसे लगता है, पति ने इस नारी की मगल कामना के ही लिए उसे छोड दिया है, यदि वह उन्हे प्राप्त करेगी तो इन्ही की सहायता से ! तभी वह ज्योति के निकट खिँचती चली आई है। ज्योति ने भी उसे, ठीक छोटी वहन जैसी, अपने निकट चली आने दिया है। वह समझती है, सावित्री के अपमानित सुहाग का एकमात्र कारण वह है। दोनों दोनो के निकट चली आई हैं, समवयस्कता ने दोनो के वीच का व्यवधान और कम कर दिया है। ज्योति ने यद्यपि अपना हृदय प्रभा के

अतिरिक्त और किसी पर नहीं खोलता, किन्तु सावित्री ने अपनी व्यथा उसके आगे रख दी थी। उस समय भी उसने हाथ के संकेत से ज्योति को एक ओर ले जा कर कहा—मेरे रोने का कारण आप जानती हैं। देखिए, कहीं बाहर अगर वे मिल जायँ तो उनसे मेरी बात कह दें। कह दें कि केवल एक बार आकर दर्शन दे जाँय, केवल एक बार। मैं उनसे और कुछ भी नहीं चाहती! यदि उन्हे मुझसे अलग रहने मे ही सुख है तो वही करें। एक बार उनके चरणस्पर्श अन्तिम बार कर लेना चाहती हूँ।

पति के स्नेह-सुख से वंचित ज्योति की आँखों मे भी सावित्री की इस बात पर आँसू भर आये। वह भी नारी है, भले ही उसके जीवन मे पति उतना उभर कर नहीं आया, किन्तु वह कौन सा जोर है, वह कौन सा स्नेह हैं जो एक नारी के मुख से इतनी आकुल व्याकुल मनुहार निकलवा सकता है, यह वह समझती है। और तभी उसे लगा, पति भी नितान्त [illegible] नहीं। हो सकता है कि नारी के जीवन में उसका भी एक विशिष्ट स्थान हो! क्यो नहीं स्वतः उसके मन मे यह पुलक-भाव [illegible], क्यो नहीं उसे अपने सिन्दूर-बिन्दु पर अभिमान होता, क्यों नहीं वह अपने 'उनसे' मिलने के लिए इतनी व्याकुल होती? व्याकुल होने की कौन कहे, वह तो उनसे दूर, बरबस भागती जा रही है! सिन्दूर उसके माथे पर भी है, सावित्री के माथे पर भी, उधर जहाँ वह मंगल वरदान बन कर चमक रहा है,

इधर वह मूर्त अभिशाप बन ज्योति का, बल्कि ज्योति के नारीत्व का ही उपहास कर रहा है! पर यह सब सोचने का समय नही, सावित्री को पास खीच, सीने से लगा, ज्योति ने कहा—पागल, यह क्या तेरे कहने की बात है! अन्तिम दर्शन कैसा रे, वह तेरे हैं और तेरे ही रहेगे! कही मिल गए तो उन्हे खींच लाऊँगी। अलग क्यो रहेगे?

सावित्री जानती नहीं, अनूप कहा है। यह भी नही कह सकती कि ज्योति से भेट होगी या नही, पर दुखी हृदय को सात्वना और सहानुभूति के दो शब्दो से जो शान्ति मिलती है, उसे भी मिली। सब ओर से उपेक्षित नारी को एक नारी के मन देश में आश्रय मिला। परिवार भर को यह बात मालुम है कि सावित्री अनूप के पास नही पहुँच सकती, दोनो के बीच एक गहरी खाई है और दोनो दो ओर खड़े हैं। कर्त्तव्य का बन्धन चाहे जो हो, प्रेम का बन्धन तो नही ही है। शय्यासगिनी वह भले ही अनूप की हो, जीवनसंगिनी तो नही ही बन सकी है। उर्म्मिला को यह बात मालुम थी, उसने समय समय सावित्री को ऊँच नीच समझाया है, स्वय अपने दाम्पत्य-जीवन से असतुष्ट होते हुए भी सावित्री को अनूप के हृदय तक पहुँचाने के लिए, दूर ही दूर से अनवरत चेष्टाएँ की हैं, पर सावित्री सफल नही हो सकी है। वह कुछ ऐसी अवश्य और जड स्वभाव की है कि उस पर किसी का कोई भी प्रभाव नहीं पड सकता। एक बात और है। सावित्री को यह भ्रम है कि

अतिरिक्त और किसी पर नहीं खोला, किन्तु सावित्री ने अपनी व्यथा उसके आगे रख दी थी। इस समय भी उसने हाथ के संकेत से ज्योति को एक ओर ले जा कर कहा—मेरे रोने का कारण आप जानती हैं। देखिए, कहीं बाहर अगर वे मिल जायँ तो उनसे मेरी बात कह दें। कह दें कि केवल एक बार आकर दर्शन दे जाँय, केवल एक बार। मैं उनसे और कुछ भी नहीं चाहती! यदि उन्हें मुझसे अलग रहने में ही सुख है तो वही करें। एक बार उनके चरणस्पर्श अन्तिम बार कर लेना चाहती हूँ।

पति के स्नेह-सुख से वंचित ज्योति की आँखों में भी सावित्री की इस बात पर आँसू भर आये। वह भी नारी है, भले ही उसके जीवन में पति उतना उभर कर नहीं आया, किन्तु वह कौन सा ज़ोर है, वह कौन सा स्नेह है जो एक नारी के मुख से इतनी आकुल व्याकुल मनुहार निकलवा सकता है, यह वह समझती है। और तभी उसे लगा, पति भी नितान्त उपेक्षणीय नहीं। हो सकता है कि नारी के जीवन में उसका भी एक विशिष्ट स्थान हो। क्यों नहीं स्वतः उसके मन में यह पुलक-भाव जागता, क्यों नहीं उसे अपने सिन्दूर-बिन्दु पर अभिमान होता, क्यों नहीं वह अपने 'उनसे' मिलने के लिए इतनी व्याकुल होती? व्याकुल होने की कौन कहे, वह तो उनसे दूर, बरबस भागती जा रही है! सिन्दूर उसके माथे पर भी है, सावित्री के माथे पर भी, उधर जहाँ वह मंगल वरदान बन कर चमक रहा है,

इधर वह मूर्त अभिशाप बन ज्योति का, वल्कि ज्योति के नारीत्व का ही उपहास कर रहा है! पर यह सब सोचने का समय नहीं, सावित्री को पास खीच, सीने से लगा, ज्योति ने कहा— पागल, यह क्या तेरे कहने की बात है! अन्तिम दर्शन कैसा रे, वह तेरे हैं और तेरे ही रहेगे! कही मिल गए तो उन्हे खींच लाऊँगी। अलग क्यो रहेगे?

सावित्री जानती नही, अनूप कहां है। यह भी नही कह सकती कि ज्योति से भेट होगी या नही, पर दुखी हृदय को सांत्वना और सहानुभूति के दो शब्दो से जो शान्ति मिलती है, उसे भी मिली। सब ओर से उपेक्षित नारी को एक नारी के मन देश में आश्रय मिला। परिवार भर को यह वात मालूम है कि सावित्री अनूप क पास नही पहुँच सकता, दोनो के बीच एक गहरी खाई है और दोनो दो ओर खड़े हैं। कर्त्तव्य का वन्धन चाहे जो हो, प्रेम का वन्धन तो नही ही है। शय्यासगिनी वह भले ही अनूप की हो, जीवनसंगिनी तो नही ही वन सकी है। उर्म्मिला को यह वात मालूम थी, उसने समय समय सावित्री को ऊँच नीच समझाया है, स्वय अपने दाम्पत्य-जीवन से असतुष्ट होते हुए भी सावित्री को अनूप के हृदय तक पहुँचाने के लिए, दूर ही दूर से अनवरत चेष्टाएँ की हैं, पर सावित्री सफल नही हो सकी है। वह कुछ ऐसी अवश्य और जड स्वभाव की है कि उस पर किसी का कोई भी प्रभाव नही पड सकता। एक वात और है। सावित्री को यह भ्रम है कि

उर्म्मिला की ओर रुझान होने के कारण ही उसके पति उस पत्नी के आसन पर नहीं बिठा पाते। और उसका यह भ्रम अब केवल उस तक ही सीमित नहीं रह गया, फैल कर परिवार भर भी उत्सुकता का कारण बन गया है। उर्म्मिला की ओर अनूप की रुझान है, हो सके तो उसे अपने जीवन मे बाँध कर रख ले, यह सब उर्म्मिला जानती है और तभी इसके निराकरण की ओर वह अधिक प्रयत्नशील रहती है। सावित्री एक सीधी सादी, तर्कहीन हिन्दू युवती है, मानव की दुर्बलताओं के लिए उसके पास कोई स्थान नहीं। वह यह समझ भी नहीं पाती कि वह कौन सी भावना है जो नर नारी को एक दूसरे की ओर खीचती है, जो उसमें नही है और जो उर्म्मिल के पास होने से ही अनूप उस ओर बढ़ चला है। उसके पास हृदय नही, होता तो समझती कि कितनी व्यथा, कितना लांछन और कितना विप लेकर उर्म्मिला उसे और अनूप को एक करने की चेष्टा करती है। उसे स्वय जीवन मे कभी कोई प्यार करने वाला नहीं मिला, यह अभाव आज इस रूप मे उभरा है कि वह प्यार को समझना भी भूल गई है।

सो, ज्योति की बात सुनकर वह केवल मन ही मन प्रसन्न हो कर रह गई। कहा—यह सब तो मैं जानती नहीं अम्मा' (इस अम्मा शब्द से ज्योति को लगा, उसके वय का अपमान हो रहा है।) वे जो चाहेगे वही करेंगे। मैं क्या, कोई भी उन्हें बाँध कर नहीं रख सकता।

घुटघुट कर मरना होता ! सो, यह तो अपने को, परिवार को, समाज को, सब को धोखा देना हुआ ! अच्छा, वह बाहर घूम फिर कर एक बार पुनः इस प्रश्न पर आद्योपान्त विचार करेगी।

प्रभा ने ज्योति को विचारमग्न देख, टोका—देखो, ज्यादा दिन न लगाना। तुम्हारे लिए मैंने बड़ी भारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली है। पत्र लिखना जरूर, समझीं !

ज्योति ने एक उसाँस ले, प्रभा को पास खींच लिया, कहा-हाँ, समझी। पत्र लिखूँगी, क्यों न लिखूँगी ? इस घर में तुम्हारे सिवा मेरा और है कौन रानी ! तुम मेरा दर्द समझती हो, तभी तो तुमने यह बोझ उठा लिया ! मैं इस कृपा के लिए आजन्म तुम्हारी ऋणी रहूँगी। मैं तुम्हारे लिए क्या करूं ?

प्रभा—ख़ैर, जिस दिन तुम्हारा जीवन सुखी हो जाय, उस दिन ऋण चुका देना। अभी कोई जल्दी नहीं है। मैं तो यह सोच रही हूँ, पिताजी को क्या उत्तर दूँगी ?

सदाशिव के संकेत से एक बार ज्योति फिर सिहर उठी। वह फूटने ही जा रही थी कि स्टेशन आ गया। मन की ज्वाला पर दो बूँद आँसू डाल ज्योति, सजग हो, गाड़ी से नीचे उतरी। कुलियों ने सामान उठाया, ट्रेन के सेकेंड क्लास के एक डब्बे में सामान रक्खा गया, थोड़ी देर तक दोनों युवतियाँ एक दूसरे की ओर देखती बैठी रहीं, और फिर गाड़ी चल दी। प्रभा नमस्कार कर नीचे उतर आई।

रात के ११ बजे हैं। खानापीना हो चुका है, नौकर सब सोने चले गए हैं। एक दिन जिस तरह ज्योति को लेकर प्रभा रेडियो खोले बैठी थी, ठीक उसी तरह आज सावित्री को लेकर वह बैठी है। अन्तर केवल यही है कि आज रेडियो बन्द है। उसकी जगह प्रभा कोकिल-दुर्लभ स्वर से गुनगुना रही है—आज मेरे घर मोहन आए! गाते गाते वह फर्श पर, तकिए के सहारे चित लेट गई है, वक्षस्थल लगभग खुल गया है। पाँव एक के ऊपर एक उसने चढ़ा रक्खे हैं और हाथो की तालियो से गीत के सुरों पर ताल देती जा रही है। सावित्री उसी के पार्श्व मे, पेट के बल, कुहनियों पर हाथ टेके, हथेलियों के बीच गाल दबाए एक टक उस अल्हड युवती को देख रही है। गीत की कडी उसके कानों मे गूंज रही है—आज मेरे घर मोहन आए! कहां आए मोहन! वह तो दूर, कही दूर चले गए हैं! कब आएगे, यह भी ज्ञात नही! सुनते सुनते, सोच सोच कर उस पति-परित्यक्ता की आखो में आँसू झलक उठे। प्रभा ने देर में देखा, नहीं तो शायद गीत गाना वह बन्द कर देती! इतनी समझदार वह है!

जब देखा तब विना पूछे न रह सकी—यह क्या भाभी! रो क्यों रही हो? एक बात मेरी समझ में नही आती। गाना सुन कर तुम भी रोने लगती हो, अम्मा भी रोती हैं। गाने से तुम लोगों को इतना वैर क्यो है?

सावित्री उस भोली, चिन्ता-क्लेशहीन युवती को नही बता सकती कि ऐसे गीतो से दुखी हृदय को कितना कष्ट होता है।

मन की सोई हुई, कुन्डली मारे वक्ष पर जमी हुई व्यथा की काली नागन इन सुरों पर जाग उठती है ! बताए भी, तो शायद प्रभा के पास इसे समझने की मनस्थिति नहीं। वह केवल इतना ही कह सकी—यह गाना न गाओ।

न गाऊँगी। पर तुम रोई क्यो ?—प्रभा ने जिद कर, पूछा।

सावित्री खुल पडी—तुमसे छिपा है ? तुम नहीं समझ सकतीं बीबी, रात की सूनी घड़ियों में मुझ पर क्या बीतती है ! मैं कितना रोती हूँ, यह तुम क्या जानो ! मेरा भी कोई जीवन है ? जिसका सुहाग रूठ गया हो, बल्कि लुट गया हो, उसे तो जीना ही न चाहिए। कोइ आशा नही, उन चरणों तक फिर इस जन्म मे पहुँच पाने की उम्मीद नहीं, फिर भी मैं जी रही हूँ, यही आश्चर्य है !

प्रभा ऊपर से पत्थर बनी है, पर भीतर ही भीतर वह पानी हो रही है। सच ही तो, यह जीवन भी कोई जीवन है ! यह उन्मादक आयु और साथी-सगी-विहीन यह एकान्त यात्रा ! नयन अपने सम्भाषणो का उत्तर न पाएँ, आलिगन के लिए उठे हुए हाथ, उपेक्षित गिर जाएँ, भूख का भोजन न मिले, प्यास अतृप्त रह जाए—यह सब क्या है ! एक युवती यह आयु का निरादर लेकर कैसे चल सकेगी ? वह स्वय भी तो युवती है ! वह क्या यह सब नहीं समझती—वह क्या आकुल व्याकुल नहीं हो उठती ! सुहाग के रूप में न सही, संगी तो कोई चाहिए

ही ! समाज के कर्णधारों ने उसके लिए नियमतः कोई जीवन-सहचर अभी नहीं ढूँढ़ा, फिर भी वह अक्सर, रातों को अपने समीप किसी को पाने के लिए व्यग्र हो ही पड़ती है ! फिर, सावित्री तो एक वार उस साहचर्य्य का रस ले चुकी है, उसका अभाव उसे क्यों न खले ? उसके मन की व्यथा प्रभा समझती है। कितनी ही वार उसकी इच्छा हुई है, भाई को इसके लिए कहे सुने, समझाए कि भली हो या बुरी, जब मिल ही गई है तो सावित्री को ही उसे मानना जानना चाहिए ! आखिर, वह बेचारी क्या करे ! यदि अनूप के मन-देश तक वह नहीं पहुँच पाती तो इसमे उसका क्या अपराध ?

पर, भाई किस धातु का वना है, यह वह जानती है। भाई के मनोविज्ञान के आगे वह हार कर रह गई है। एक अनचाहे के साथ वरवस लगे लिपटे रहने की भयकरता को अनूप ने जिस तरह उसके सामने रक्खा है उसके आगे फिर कुछ कह पाने का साहस वह अपने में नहीं वटोर सकी है।

उसने सावित्री की ओर करवट लेते हुए कहा—भाभी, तुम नाहक़ इतना परीशान होती हो ! अपनी चीज कोई योंही छोड देता है ? भैया आएं गे। चरणों वरणों तक पहुँचने की वात गलत है, तुम्हारे बन्धन से छूट कर वे जा ही कैसे सकते हैं ! उनके मन में और कुछ भले ही न हो, दया बहुत है। तुमसे प्रेम न करें पर तुम्हें यों छोड़ भी नहीं देंगे।

सावित्री इन बातो से अपने मन को धीरज बँधाना चाहती है, पर अब यह नहीं होता। एक ही बात, बहुत दिनों से बहुतों के मुख से सुनकर अब वह ऊबने लगी है। सभी कहते हैं, आएँगे पर कब आएँगे यह कोई नहीं बताता। सभी कहते हैं, वह तुम्हारे हैं पर इसका प्रमाण कोई नहीं जुटा पाता। कब वह वंचिता अपना खोया प्यार पाएगी, इसका आभास कोई नहीं देता! यह सब मिलकर क्या उसे बहला रहे हैं? उसके घायल दिल पर, उँगलियो से मरहम लगाने के बहाने, घाव और बडा करने का ही क्या यह सब आयोजन है? मृतक के शव पर, चील कौओ का सा आनन्द क्या यह मनाया जा रहा है? यदि यह है, तो वह यह सब नहीं होने देगी! क्यो उसके अस्तित्व को लेकर खेल खेला जा सके? पुत्र ने त्याग दिया है, पिता क्या इसीलिए उसकी कुछ चिन्ता न करेगा? सौतेले बेटे ने छोड़ दिया है, सौतेली माँ क्या इसीलिए उसका उपहास करने की अधिकारिणी हो गई? भाई ने समूचा संबंध हटा लिया है, बहन भी इसीलिए क्या उसे व्यङ्ग्य करके छेदेगी? नहीं, वह यह सब नहीं झेल सकेगी! लेकिन न झेलेगी तो करेगी क्या! यह भी तो नहीं कह सकती कि न दो तुम सब लोग दया की भीख, मैं अपने रास्ते आप जाऊँगी! अपने रास्ते आप वह जायगी कहाँ? उसमें है ही क्या? कुमारी होती तब भी बहुत से रास्ते उसके लिए थे, सुहाग के साथ ही साथ क्या उसने उसका वर्तमान अर्थ भी

भी नहीं दिया जा सकता। अभी तलाक़ विल के लिए, नारियों के लिए जो शर्तें रक्खी गई हैं, पुरुष की स्वतन्त्रता देखते हुए वे भी नही के वरावर हैं! एक वात और है। यदि कभी ऐसा अवसर आ भी जाय, नारी स्वय अदालत मे खड़ी होकर अपने अस्तित्व के इस लज्जा-जनक अश को लेकर वावेला मचाना स्वीकार नहीं करेगी। उसका पति उसे त्याग रहा है या वह स्वयं पति को छोड़ रही है, उसे स्वीकार करने और कराने के पीछे नारी का युग-युगावधि का संस्कार काँप उठता है। वह सभी यातनायें सहेगी, मार-तिरस्कार और उपहास झेलेगी पर स्वय मुँह से कुछ न कहेगी। यह उसके त्याग का, धैर्य और कष्ट-सहिष्णुता का चरम आदर्श भलें ही कह दिया जाय—है भी—पर साथ ही, इसमें उसका विद्रूप भी सोया पडा है। खैर, पर तुम यह सव जान कर क्या करोगी? तुम्हें तो ऐसा कुछ करना नहीं है! (हँसकर) कहीं यह सव सोचना भी नहीं, भैया अनाथ हो जायँगे! ऐसी चाँद सी, फूल सी···प्रभा यही सव कहने लगी।

सावित्री ने वात काट दी। ठण्डी सांस लेकर बोली—ठीक कहती हो वीवी, मुझे यह सव नहीं जानना चाहिए। जानकर अपना ही अहित कर डालने की अपेक्षा न जानना ही सही है। जान लूँगी, पूरी तरह समझ लूँगी तो केवल एक मानसिक उलझन ही वढ़ेगी। नारी यह सव जानने न पाए, समझने न पाये, यही सब सोचकर तो पुरुष ने हमें कैद मे रक्खा है।

यह सब जाने दो, यह तो यों ही पूछा था। तुम्हारे भैया भी तो पुरुष ही हैं न ! सो वह कुछ नया करेंगे, इसका तो कोई कारण नहीं है। मुझे तो अपना सुहाग लेकर रोते ही रहना है !

प्रभा चौकी। आज सावित्री यह सब क्या कह रही है ! उसने समझाने के ढङ्ग पर कहा—नहीं, नही भाभी, तुम भैया को नहीं जानतीं वे ऐसा कुछ कभी नहीं करेंगे। दूसरा व्याह करने की ज़रूरत ही क्या है, तुममें क्या नहीं है ?

सावित्री—मैं पूछूँ, मुझमें क्या है जो तुम्हारे भैया मेरे साथ लिपटे रहें ! उर्म्मिला को तुम भूल गईं ? उनके चरणो तक पहुँचने योग्य भी तो मुझे वे नही समझते ! जब जब उनकी बात मैंने चलाई है, जब जब उनकी कोई बात कहीं आई है, भैया तुम्हारे आंखें बन्द कर बैठ रहे हैं। कहा है—तुम उन्हें नहीं समझ सकतीं। वे मेरी क्या हैं और मेरे जीवन मे उनका कितना स्थान है, यह तुम कभी नही जान सकोगी। स्वय वे भी नही जानती। शायद मेरे··पर ही लोग पूरी तरह जान पायेंगे। जब मुझे छोड किसी और ने उनके जीवन में इतना स्थान पा लिया है, तो मैं कहाँ रह जाती हूँ ? यह तो मेरा भ्रम ही है जो मैं अब भी उन्हें ही अपना सब कुछ मानती हूँ। वे तो ऐसा नहीं समझते।

प्रभा कहना चाहती है, बात उसके कण्ठ तक आकर रुक गई है, कि यह भ्रम दूर करना ही होगा। यह भूल ही जाना होगा कि पति-पत्नी के जीवन में प्रवेश पाने का किसी अन्य को

अधिकार नहीं है। एक दूसरे को छोड़ किसी अन्य ओर रुझान होने के यह अर्थ किस ओर से होते हैं कि वे पति-पत्नी नहीं है? यह सब नीतियाँ उस युग की देन हैं जब नारी, धन और अन्न की भाँति ही, नर की सम्पत्ति समझी जाती थी। आज से कई हज़ार वर्ष पहले, जब शहर कम थे, सड़कें कम थीं और अरक्षित राष्ट्र-जीवन का केन्द्र गाँव था, धन था अन्न! समूचा जीवन धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक इसी साँचे में ढला था। थोड़े परिश्रम मे—एक के परिश्रम से—दस का पेट भरता था। प्रगति, परिवर्तन के विरुद्ध, स्थितिस्थापक दशा में घर पर खेत से लाया गया अन्न बहुत काम दे देता था। इन्ही कारणों से सयुक्त परिवार की नींव पड़ी। यदि सयुक्त परिवार न होता तो जिस जमाने मे खेत बड़े और दूर तक फैले थे, गावो के चारो ओर जगल थे, किसी की रक्षा न हो सकती। न खेती हो सकती, न जान बचती। पर, सयुक्त परिवार तभी चल सकता है जब स्त्रियो का व्यक्तित्व दबे। पुरुषो का व्यक्तित्व भी दबता है पर उतना नही, कारण, वह बाहर काम करने के लिए निकलता है। स्त्री का बाहर, काम करने के लिए, जाने की आवश्यकता नहीं रही। फिर, सम्पत्ति रखने की प्रवृत्ति स्त्री पुरुष, सबमें है। जब निजी सम्पत्ति होगी तो उसके उपार्जन का बोझ पुरुष पर पड़ेगा। यह प्रवृत्ति भी स्वाभाविक होगी कि मेरी उपार्जित सम्पत्ति मेरी परिधि के बाहर न जाय, अर्थात्, मेरी सन्तान को मिले। सयुक्त परिवार होने से इस पर और

जोर पडा। इसीलिए स्त्रियों के लिए सतीत्व पर बहुत जोर दिया गया। स्त्रियो को भी स्वयं सम्पत्ति के उपभोग मे रस था इस-लिए इसमे उनकी भी स्वीकृति थी। आज वह आर्थिक आधार नही है। शहर बढ़ गए, गांव टूट रहे हैं, सडकें बनती जा रही हैं, धन अन्न में न रह कर रूपए मे हो गया है, एक प्राणी दस का पेट नहीं भर सकता। धर्म, संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था, सब बदल रही हैं। संयुक्त-परिवार इसी कारण टूट रहा है, स्त्रियों की आर्थिक स्वाधीनता कहीं कही आवश्यकता का रूप ले रही है, सतीत्व भी चला जायगा। तो, पुरुष को तो आरम्भ से ही स्वच्छंदता है, नारी ही, स्वयं अपने ही कारण बन्धन में रही है। उसे अपने को आज के आर्थिक आधारों के अनुसार परिवर्तित करना ही होगा—नहीं, उसका कल्याण नहीं। बहुपत्नीत्व और बहुपति प्रथा बुरी कह दी सकती है पर आधार उसका आर्थिक है। यह ध्रुव सत्य है। कर्त्तव्य के बन्धन में बँधे पति-पत्नी, क्षण भर उस बन्धन को अलग कर, प्रेम के बन्धन मे कहीं और भी बँध जा सकते हैं, यह सर्वथा स्वाभाविक है। एक रसता और नियमित जीवन कभी भारी भी हो उठ सकते हैं, यह मानना ही होगा। सो, उर्म्मिला भैया के जीवन में इसी इतिहास के साथ लिपटी है। तुम भैया के मानसिक धरातल तक पहुँच पाने मे समर्थ नहीं हो सकी, स्थान रिक्त था, उर्म्मिला वहाँ पहुँच पाने में सफल हुई और जमकर बैठ रही। तुम सुन्दरी

हो, यही कारण क्या एक पुरुष के लिए बस होना चाहिए? तुम उनकी सेवा कर सकती हो, पाँव पूजने को सदैव प्रस्तुत रह सकती हो, यही क्या आज के युग में वैज्ञानिक व्याख्याओं को दबा कर, पर्याप्त हो उठेगा? नहीं।

कहना चाहती है प्रभा, पर मुँह उसका नहीं खुलता। सावित्री यह बातें नहीं समझ पाएगी। उसके संस्कार ही ऐसे नहीं हैं। मानव-हृदय की भूख का उसे पता नहीं, अतृप्त-काम युवक युवतियों के लिये और उनकी पूर्त्ति के साधनों के प्रति उसे सहानुभूति नहीं। वैज्ञानिक युग की संघर्षमयी विचार धाराओं पर सोचने समझने का ज्ञान उसके पास नहीं। वह एक सीधी सादी हिन्दू नारी है, पति ही जिसका इष्ट है, कोई हो, चाहे जैसा हो। बोली प्रभा—भाभी, तुम यह सब न सोचो। देख लेना, भैया एक न एक दिन जरूर आएँगे और तुम ही तब उनकी सब कुछ हो उठोगी। हटाओ यह बातें, आज सोना नहीं है क्या?

हाँ, सोना है। खाना खा लेना और सो रहना, यही तो हमारा जीवन है। कल फिर सवेरा होगा और यही क्रम!—सावित्री ने कहा और उठ पड़ी।

प्रभा—अच्छा भाभी, आज तुम मेरे ही कमरे में चल कर सो रहो।

रात को दो ढाई बजे जब दोनों युवतियाँ, वक्ष से वक्ष सटाए एक पलँग पर पड़ीं तो दोनों के विचार दो जगह थे।

सहसा ही सावित्री ने और पास सरकते हुए पूछा—अच्छा बीवी, तुम्हे वे पसन्द तो हैं न !

कौन ?—प्रभा ने, समझते हुए भी पूछा।

वही। जहाँ चार पाँच महीने में जा रही हो ! जो दिन इतनी प्रतीक्षा के बाद आने वाला है !—सावित्री ने कहा।

प्रभा ने और भी बनते हुए कहा—चार पाँच महीने बाद तो मेरा इम्तहान आने वाला है ! पास हो जाऊँगी तो पिताजी मुझे एक बढ़िया सिल्क की साडी देंगे, ऐसा कहा है।

सावित्री--हाँ, इम्तहान ही आने वाला है, और एक साड़ी नही, दर्जनो साडियाँ मिलेंगी। और भी बहुत सी चीजे मिलेंगी। बनो न बीबी, सच बताओ, वे तुम्हे पसन्द हैं या नहीं !

प्रभा अधिक न छिपा सकी, बोली--पसन्द क्यो नही हैं ? आदमी को बैल पसन्द नही होते ? सो, मुझे भी वे, उसी तरह पसन्द हैं।

सावित्री—तो तुमने बाबूजी ( सदाशिव ) से कहा नही ! आगे क्या होगा ? एक बार ब्याह हो जाने पर फिर तो

प्रभा बात काट कर कह उठी—कोई छुटकारा नहीं, यही तो कहना चाहती हो न ! सो न होगा। मेरी यह शिक्षा व्यर्थ न जायगी। मैने पढ़ा है, समझी भाभी, मैने पढा है ! और जो शिक्षा मन मे साहस भरने मे समर्थ नही होती वह शिक्षा नहीं है। मैं उन पढीलिखी लडकियो मे नही हूँ, जो बी० ए०,

एम० ए० की पूँछ लिए फिरती हैं पर नौकरी करने को कहो तो हजार बहाने, अपने पाँवों आप खड़ी होने को कहो तो लाख रुकावटें! पिता नही मानते, माँ नहीं मानती, यह और वह! पहले तो यह, ब्याह होगा ही नहीं और अगर हुआ तो उसे विवाह न मानने की स्वतंत्रता भी मेरे पास सुरक्षित रहेगी। फिर, चाहे जो हो।

सावित्री ने मन ही मन अनुभव किया, वह इस युवती से कितनी हीन है! कहाँ है उसमे इतना साहस कि कह सके, वह अपने विवाह को विवाह नहीं मानती! बधन तोड़ कर अपने को स्वतंत्र, परितृप्त और सुखी बना ले! एक बार खुलकर कह सके—अनूप यदि उसे अपनी नहीं मानता तो वह भी अनूप को अपना······पर, यह वह क्या सोच रही है!

प्रभा कहती गई—भाभी, जब बात चली है तो कह दूँ, मुझे वह युवक रत्ती भर पसन्द नहीं है। पिताजी से दबे दबे मैंने कह भी दिया था, पर वह नही सुनना चाहते। ब्याह के ५ मे मुझे कुछ बोलने का हक़ वे नहीं देना चाहते। भैया भी .ह। हैं। किससे कहूँ! कौन सहायता करेगा? खैर, इतना तुम .. ., यह ब्याह न होकर ब्याह का नाटक होगा। पर मैं लोगो की तरह, अनिच्छापूर्वक, अपना पार्ट न अदा .रत जाऊँगी। कुछ करूँगी।

बात गम्भीर हो रही है, और इन विषयो पर ज्यादा बात करने योग्य मनस्थिति सावित्री की अब नहीं रह गई है। नींद

भी उसे आ रही है। करवट लेते हुए उसने कहा—अच्छा, अब इस समय सोओ। देखा जायगा क्या होता है। उनका कोई पत्र तो नहीं आया था ?

उनका किसका ?--सावित्री को चिढ़ाने की नीयत से, प्रभा ने जानते हुए भी पूछा।

सावित्री--तुम्हारे भैया का, और किसका !

नहीं। मेरे पास क्यो भेजने लगे, भेजते तो तुम्हारे पास भेजते।'—कह कर प्रभा, जैसे खिन्न मन, दूसरी करवट हो रही।



## सात

अनूप ने जाते जाते उस दिन कहा था—दीपक की लौ कभी कभी टेढ़ी होकर भी जलती है पर उसके सीधे होकर जलने के अधिकार को कोई छीन नहीं सकता। नारी यदि सती बनकर रहना चाहती है तो उसे कोई रोक नहीं सकता। उसका एक बना बनाया समाज है, ज़िम्मेदारी सही सही निभाती हुई वह उसके साथ चली चल सके तो यही उसके लिए बस है। सच ही तो है! उर्म्मिला अब यही करेगी। देवी बनने के लिए ही उसे दुनिया में रहना है, मानवी बनी रह कर, कभी कभी, जो स्वभाव-जन्य कामनाओं की सम्भावना है, वह तब न रहेगी। आखिर, मानवी बने रहकर उसे मिल भी क्या रहा है? अपना, पति का और बच्चे का भविष्य ही तो वह बिगाड़ रही है! अपनी सुख शान्ति भरी गृहस्थी में, अनायास ही एक अजनबी को निमन्त्रित कर, वह जो उसके लिए व्यस्त हो उठी है, किसी भी तरह उसके हित में यह अच्छा नहीं होगा। यह भी तो नहीं कि वह परदेसी उसे—उसका साथ आजीवन देगा! जिस डाल पर वह बैठी है उसे ही काटकर फेंक देने पर कहीं पल भर को

आश्रय भी तो न मिलेगा। तो, वह अब करेगी अपने अस्तित्व से समझौता ! अतीत को अतीत बनाए रख कर, वर्तमान पर वह कठोरता से शासन करेगी, भविष्य उसका तभी मगलमय हो सकता है।

विचारो के अनुकूल कार्य भी उर्म्मिला ने आरम्भ कर दिया है। मन के किवाड़ चारो ओर से बन्द कर उसने अपना सब कुछ पति की ओर उन्मुख कर दिया है। तन से, मन से और जीवन से वह एक की--बस एक की बनी रहना चाहती है। अपने इस उत्साह में वह भूल ही गई है कि उसका भी कुछ अस्तित्व है। हॅसती है पति के लिए, गाती है पति के लिए, बोलती है पति के लिए, यहाँ तक कि जीना भी वह पति के ही लिए चाहती है। पर देवेन्द्र पुरुप है, इतनी सेवा और तन्मयता पाकर भी वह अब इस पर नही विश्वास कर लेना चाहता कि उर्म्मिला के जीवन में अनूप का कोई स्थान नही रह गया है। अनूप चला गया है भले ही, पर देवेन्द्र के मन का सन्देह का भूत नही गया और तभी वह उदासीन हो गया है। घर में नित्य मे कार्यो के भी उसकी यह उदासीनता स्पष्ट परिलक्षित होती है। वह अपने को बार बार समझाना चाहता है कि तू तो उदार था, इन छोटी छोटी बातो की तू परवाह ही कब करता था, तू इन सब से ऊँचे है, देश के साथ साथ नारी की, समाज की उन्नति और सुधार की कामना भी तो तेरे मन में है, फिर क्या इन सन्देहो और विश्वासों के

## सात

अनूप ने जाते जाते उस दिन कहा था—दीपक की लौ कभी कभी टेढ़ी होकर भी जलती है पर उसके सीधे होकर जलने के अधिकार को कोई छीन नहीं सकता। नारी यदि सती बनकर रहना चाहती है तो उसे कोई रोक नहीं सकता। उसका एक बना बनाया समाज है, जिम्मेदारी सही सही निभाती हुई वह उसके साथ चली चल सके तो यही उसके लिए बस है। सच ही तो है! उर्म्मिला अब यही करेगी। देवी बनने के लिए ही उसे दुनिया मे रहना है, मानवी बनी रह कर, कभी कभी, जो स्वभाव-जन्य कामनाओं की सम्भावना है, वह तब न रहेगी। आखिर, मानवी बने रहकर उसे मिल भी क्या रहा है? अपना, पति का और बच्चे का भविष्य ही तो वह बिगाड रही है! अपनी सुख शान्ति भरी गृहस्थी मे, अनायास ही एक अजनबी को निमन्त्रित कर, वह जो उसके लिए व्यस्त हो उठी है, किसी भी तरह उसके हित मे यह अच्छा नहीं होगा। यह भी तो नहीं कि वह परदेसी उसे—उसका साथ आजीवन देगा! जिस डाल पर वह बैठी है उसे ही काटकर फेंक देने पर कहीं पल भर को

आश्रय भी तो न मिलेगा। तो, वह अब करेगी अपने अस्तित्व से समझौता! अतीत को अतीत बनाए रख कर, वर्तमान पर वह कठोरता से शासन करेगी, भविष्य उसका तभी मंगलमय हो सकता है।

विचारो के अनुकूल कार्य भी उर्म्मिला ने आरम्भ कर दिया है। मन के किवाड चारो ओर से बन्द कर उसने अपना सब कुछ पति की ओर उन्मुख कर दिया है। तन से, मन से और जीवन से वह एक की--बस एक की बनी रहना चाहती है। अपने इस उत्साह मे वह भूल ही गई है कि उसका भी कुछ अस्तित्व है। हँसती है पति के लिए, गाती है पति के लिए, बोलती है पति के लिए, यहाँ तक कि जीना भी वह पति के ही लिए चाहती है। पर देवेन्द्र पुरुष है, इतनी सेवा और तन्मयता पाकर भी वह अब इस पर नहीं विश्वास कर लेना चाहता कि उर्म्मिला के जीवन में अनूप का कोई स्थान नही रह गया है। अनूप चला गया है भले ही, पर देवेन्द्र के मन का सन्देह का भूत नही गया और तभी वह उदासीन हो गया है। घर में नित्य में कार्यों के भी उसकी यह उदासीनता स्पष्ट परिलक्षित होती है। वह अपने को बार बार समझाना चाहता है कि तू तो उदार था, इन छोटी छोटी बातो की तू परवाह ही कब करता था, तू इन सब से ऊँचे है, देश के साथ साथ नारी की, समाज की उन्नति और सुधार की कामना भी तो तेरे मन मे है, फिर क्या इन सन्देहो और विश्वासो के

बल पर ही तू सुधार करेगा, किन्तु लाख वह समझाए अपने को, अपनी मनःप्रवृत्ति पर अधिकार वह नहीं पा रहा है। उसका स्वयं का आत्म-विश्वास डिग गया है।

देवेन्द्र अपने को समझ लेना चाहता है। चाहता है कि उर्म्मिला को यदि उसके साथ पत्नी रूप मे रहना है तो वैसे ही रहे। यह नहीं कि उसके चरित्र पर संदेह देवेन्द्र को आज हुआ हो, वह तो कभी का हो चुका था। यह बात और थी कि उसने उस सन्देह को बड़ा कभी नहीं बनाया, उस समय यही चाहता था कि बात आई-गई सी हो जाय। अभ्यास ने यह संभव भी कर दिया पर आँख से देख कर तो मक्खी नहीं निगली जाती। अनूप के जाने के बाद से अब तक वह इसी उधेड़ बुन में लगा रहा, चाहता था कि इस समस्या का कोई सहानुभूतिपूर्ण हल वह निकाल सके, उर्म्मिला, भीत हरिणी की तरह, पीछे पीछे लगी रही। क्या जाने कब, कौन सी नई विपत्ति उसके सर पर घहरा पड़े। और तब देवेन्द्र की शंकाओं का समाधान तो उसे करना ही होगा! वह सामाजिक प्राणी जो ठहरी!

देवेन्द्र अपने को भुलावा अधिक न दे सका। बात सदा के लिए तय कर लेना उसे जरूरी लगा। साथ ही, अनूप और उर्म्मिला का आपसी सम्बन्ध भी उसने जान लेना चाहा। इससे उसका हित ही होगा, उसने समझा। आज वह उर्म्मिला से सब कुछ जान लेना चाहता है। वह उदार हो भले ही, इन सबमें ऊँचे हो सही, नारी की उन्नति और सुधार की कामना उसके

मन में हो, यह भी ठीक है, पर अपने ही घर मे यह सब देख उसका सब विश्वास डिग ही रहा है। और तभी उसे जरूरत हुई है आज सब कुछ समझ लेने की। हमारी सदिच्छाएँ और सदुत्साह बहुधा तभी तक बने रहते हैं जब तक बात दूसरो से सम्बन्ध रखती है। अपने सिर पर पहाड़ टूटता देख कर भी विचलित हुए बिना दूसरे घरो को बचाने दौडने वाला या तो पागल है या अति-मानव। साधारण मानव तो वह शायद नहीं ही है। सो, रात को देवेन्द्र ने चिरन्तन नर का रूप धारण किया। ईर्ष्या, द्वेष और आधिपत्य-भावना से भरा देवेन्द्र रात को पूछ ही बैठा—क्यो ऊर्म्मि! अनूप तुम्हारा कौन है? मैं जानना चाहता हूँ।

उर्म्मिला की श्वास तीव्र हो उठी। बन्द मुँह देवेन्द्र का आज खुल गया था, न जाने अब कौन सी बातें सामने आएँ! अतीत की कितनी ही स्मृतियाँ—विस्मृतियाँ ही उन्हे कहना सही होगा—कुरेद कुरेद कर जगाई जायँगी। वह सिहर उठी पर जवाब उसे देना ही था। चुप रह कर सन्देह वह और बढ़ाएगी। बोली—यह सवाल मुझसे क्यो करते हो? वह मेरा कोई फिर, तुम्हारे सामने ही तो आया था! मैं तो उस दिन मना कर रही थी तुम्हें कि न जाओ, तुम गए। न तुम जाते न सदेह की गध तुम्हारी इतनी तीव्र होती। आखिर, उसके मेरे साथ अकेले रह जाने पर ही तो तुम इतने शकित हो उठे हो!

चोरी और फिर सीनाज़ोरी? देवेन्द्र सह न सका। रोटी के दाता, बच्चों के बाप, आश्रय के व्यवस्थापक को आश्रित का यह व्यंग्य तीर सा चुभा। वह पलॅंग पर उठ बैठा, कहा—देखो ऊर्म्मि, अनूप तुम्हारा कोई भी हो, इससे मुझे बहस नहीं। मैं केवल यह जानता हूँ कि अब वह तुम्हारा कोई, कुछ नहीं हो सकता। तुम्हें कुछ लाज शर्म बची है या नहीं? यह तो नहीं कि अपने किए पर पछताओ, ऊपर से मेरे सन्देह, बल्कि विश्वास को यों हवा में उड़ा देना चाहती हो? मैं पूछूँ अकेले रह जाने के अर्थ क्या यहीं होते हैं कि पलॅंग के पास फूल रखे जायँ, पान की गिलौरियाँ सजाई जायँ, अपने बिछावन पर...

क्या कह रहे हो?

हाँ—अभी और सुनो। द्रौपदी के पाँच पति रखने का युग अब बीत गया है, जब कई कई आदमी एक साथ एक स्त्री का पालन करते थे। यदि मेरा दिया खाकर रहना है तो मेरा ही बनकर रहना होगा। जब सारियों की जरूरत होती है, माथे पर साया और बच्चों के दूध की व्यवस्था का सवाल उठता है तब तो तुम चन्दा करने नहीं जाती न! उस समय तो कोई आकर नहीं कहता—लो, मुझसे ले लो। श्रीमती कहलाने में भी तुम्हें रचमात्र आपत्ति नहीं होती। फिर प्रतिदान में मिलना भी तो अकेले मुझी को चाहिए! उसमें चन्दा लगाने लोग क्यों पहुँच जाते हैं?

मैं पूछती हूँ, आखिर तुम्हे आज क्या हो गया है ?—यह रात के अधकार को चीरता हुआ उर्म्मिला के सिहरते, दबे गले का स्वर था। वह काँप रही थी।

हो क्या गया है ? क्या नही हुआ है ? मैं पूछता हूँ—अनूप तुम्हारा कौन है ? भाई, पिता, पुत्र ? क्यो उसके साथ इतना अपनापा है, इतना स्नेह है, क्यो उसके लिये इतना दर्द है ? और क्यों उसे इसका अधिकार है कि मेरी अनुपस्थिति में वह मेरे पलॅग पर, मेरे जैसी दशा मे सो सके ?—देवेन्द्र ने क्रोध से काँपते हुए पूछा।

उत्तर यद्यपि असंगत-सा था, फिर भी उर्म्मिला के मुख से अनजाने ही निकल पड़ा—उन्हें मैं जानती हूँ ! व्याह के पहले से। और वाद में, तुमने भी तो नही रोका। मैं क्या करती ?

हूँ। व्याह के पहले से जान पहचान है, यह सही है और मैंने भी तुम्हें नहीं रोका, यह भी ठीक है, पर जहाँ तक मुझे पता है, एक पलॅग पर सोने की अनुमति भी मैंने कभी नहीं दी। ना, ना, वनो नही। मुझे सब मालूम है। पलॅग पर पडी हुई तुम्हारी सारी पुकार पुकार कर तुम्हारे कामों का परिचय दे रही है। यह सब क्या है, वोलो ! दी हुई स्वतन्त्रता का यही प्रतिदान तुम मुझे दे सकती थी ! तुम्हे वच्चे के भविष्य का भी सोच विचार नही रह गया ?

उर्म्मिला क्या जवाब दे क्या नही, यही सोचती रह गई। उत्तर कोई था भी नहीं। आर्थिक दृष्टि से परतन्त्र नारी ने अपने

स्वामी के प्रति, अपने शासक के प्रति जरूर अपराध किया था। स्वतंत्र होती उर्म्मिला, रोटी कपड़े के लिये किसी पर आश्रित न होती, वच्चे का भार स्वयं ले सकती तो उसकी यही भूल साधारण भाव से ग्रहण की जाती, कोई जानता कोई न जानता, ध्यान देने योग्य भी न समझी जाती और बड़े आदमियो की वड़ी वात कहकर, सहज ही टाल दी जा सकती थी। पर सेविका को भूल भी स्वामी की आज्ञा से ही मिटानी चाहिए, यही विधान है। गुलामी प्रथा को अपने बीच से उठा देने का दंभ करने वाला समाज इस विषय मे दंभ कर नहीं सकता। उर्म्मिला ने देखा, वात जो असावधानी से खुल गई है वह अब फिर ढाँकी नही जा सकती। उभरेगी ही। आत्मरक्षा के उसके सभी साधन इस समय उसके विरुद्ध ही जायँगे। तो वह चुप रहेगी। देवेन्द्र को जो कुछ समझना हो, वह समझ सकते हैं। उन्हे जब एक बार उर्म्मिला अपने प्रत्येक क्षण का अधिकार दे चुकी है, तब उन्ही के निर्देश से चलना उसके लिए सही वात है। अपने मन मे उठते हुए विद्रोह को पीकर उर्म्मिला सुनने ही लगी, इसी मे उसका कल्याण था—देवेन्द्र कहता जा रहा था—ऊर्म्मि, मैं यह नहीं कहता कि तुमने कोई गुनाह किया। कोई पाप भी ऐसा करना नहीं है। मेरे शब्दो मे यदि ऐसी ध्वनि निकलती हो तो यह मेरे कहने की भूल है। वने वनाए उसूलों पर मेरा गहरा विश्वास नहीं। मैं केवल यह वतलाना चाहता हूँ ऊर्म्मि, कि जिस अवस्था मे तुमने यह सब

किया है, वह गलत है। मैं तो स्वय तुम्हे—नारी को—मुक्त और पछी सा देखना चाहता हूं! पर छिप कर नहीं ऊर्म्मि, जो करना हो, खुनकर करो। जैसे भूख लगने पर इच्छा भर खा लेती हो, कहीं कोई झिझक या सकोच का अनुभव नहीं करती हो, वैसा ही तुम साहस यहाँ, इस बात में क्यो नहीं दिखला पाती! मैंने तो तुम्हें कभी बाँध कर नही रक्खा रानी! सदा, सब बात की सुविधा दी। शुरू से ही यह भावना तुममें भर देनी चाही कि तुम नारी हो, अपने को भूलो नहीं। मेरे साथ जो तुम बँधी हो वह एक आपसी समझौता है, बंधन नहीं। फिर, मुझसे कहकर तो देखती, मैं कितना आगे जा सकता था! अनूप से तुम्हें प्रेम था—ना, प्रेम का कोई और अर्थ न लगाना, प्लैटोनिक लव पर मेरा यकीन नही—वह प्रेम, जो एक नारी को, स्वस्थ, सबल और साधारण नारी को नर से होता है, जो चाह एक मानवी के हृदय में मानव के प्रति होती है। तो यह तो कोई ऐसा अपराध नही जो छिपाया जाय! मैं तुम्हारा पति बन गया हूँ इसीलिए क्या और कोई तुम्हारा कुछ नही बन सकता?

उर्म्मिला को याद आ रहा है, एक बार कहीं से देवेन्द्र एक अखबार उठा लाया था। उसे ही दिखाने के लिए एक स्थान पर उँगली रख, रात को उसने कहा था बहुत सी बातें। मोटे अक्षरो में हेडिंग थी—

आत्महत्या

ट्रेन से युवती कट मरी।

......स्थानीय बैरिस्टर की युवती धर्मपत्नी ने कल रात ट्रेन से कट कर अपना प्राण दे दिया। आत्महत्या का यद्यपि कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं फिर भी, कहा जाता है, एक युवक के प्रेम ने उनसे ऐसा असाध्य-साधन करा लिया। श्रीमती पढ़ी लिखी थीं, कर्त्तव्य की वेदी पर उन्होंने अपने को पूरी तरह निछावर कर दिया था, पर कभी कभी उनकी स्वाभाविक वृत्तियाँ उभर ही आती थीं, कल रात, कहा जाता है, वह बहुत उद्विग्न थीं, उसी का यह परिणाम है। पुलिस पता लगा रही है। दो बच्चे भी उनके जीवित हैं। क्रम से नव और पाँच वर्ष के।

देवेन्द्र ने कहा था—ऊर्म्मि, देखती हो! यह है हमारे समाज की व्यवस्था! सुकुमार फूल यों रौंदे जाते हैं। कौन सी वह भावना है जो एक नारी को प्राण देने पर बाध्य करती है? वह नारी, जो सब प्रकार प्रसन्न है, सुखी है, परितृप्त है, बच्चों ने माता का सामाजिक प्रतिष्ठा का पद भी प्रदान कर दिया है, पति के दामन से लगी लिपटी जो लोगों में गौरव से देखी जाती है। सोचो, वह पढ़ी लिखी भी थीं! सारी शिक्षा-दीक्षा मन की एक करवट से धुल पुँछ कर साफ़ हो गई। मानसिक उन्नत धरातल से भी नीचे देखकर वह अपने को संयत रख न सकी। नीचे की मुक्त और हरी भरी घाटी का प्रलोभन मन में प्रबल हो ही उठा फिर, उन कलियों का क्या हो जो शिक्षा से अपने संस्कारों को माँज कर चमका नहीं सकी हैं, जो अपने को, अपनी अप्रकट सुरभि का मोल नहीं जानतीं, जिनके पास सत्य के संघर्ष से

जूझने का साहस नही है ? यह तो अपने को, परिवार को, समाज को, सब को धोखा देना है न ! यदि यह युवती साहस करके आगे आती, पति से कह देती और अलग जा पडती और अलग रह जाने की अनिवार्य आवश्यकता, पैसो की व्यवस्था स्वय कर लेती तो क्या उसका जीवन सुखी न होता ? मर कर उसने क्या पाया ? क्या उसे कुछ मिला ? यह आत्म-हनन है ऊर्म्मि, आत्म-दहन, और इसके लिए समाज उतना उत्तरदायी नही जितने हम स्वय ! भाग्य भी इसके लिए दोषी नहीं हो सकता । गलत हैं हमारे संस्कार और गलती है हमारी संस्कारों से मुक्त न हो पाने की चेष्टा ! समझी !

समझी तो थी उर्म्मिला सब, पर यह जो इस समय परिस्थिति आपड़ी है, उसमें उसका समझा बूझा कुछ काम नहीं दे रहा है ! वह सोच रही है, यह तो वही देवेन्द्र है न जो कभी इतना समझाने बुझाने का साहस रखता था ! अब वह इतना बदल क्यों गया है ? सुकुमार कलियों के प्रति उसकी वह सहानुभूति कहाँ चली गई ? अपने पर जब बात आती है, क्या व्यक्ति का असहिष्णु हो उठना जरूरी ही है ? एक ओर वह मुक्त कंठ से यह कहने का साहस रखता है कि उर्म्मिला का कृत्य पाप नहीं, दूसरी ओर पति की सहज स्वाभाविक आधिपत्य भावना से पूछता है—अनूप मेरा कौन है ! दोनो बाते क्या एक साथ सही हो सकती हैं ? कहीं कुछ छल इसमें अवश्य है । लेकिन छल ही इसे वह कैसे कहे ! वे तो कह रहे हैं, अनूप कोई भी हो,

मुझे जो कुछ करना है, खुल कर करूँ ! खुल कर कुछ कर पाना कहने की ही भाँति क्या सहज होता है ? यदि ऐसा ही होता, आदिम युग से नारी जो चिरन्तन शृंखला मे कैसी तडप रही है, वह क्या अबतक दूर न होगया होता ! यही तो नारी का वास्तविक अस्तित्व है—यही, क्रम से उसका इतिहास है। शताब्दियाँ आईं और गई, बड़े बड़े साम्राज्य बने और मिटे, क्रान्ति की लहरें उठी और किनारे के चट्टानो से टकरा, लौट गई पर नारी वही रही। पुरुष दृढ़शिला बना रहा, नारी लहर बनी दूर से चैलेंज देती रही, पास आई तो टकरा कर लौट ही गई। शिला का एक अणु भी धोकर साथ नहीं ले जा सकी। यह सच है कि दोष उसका ही है, पुरुष का नहीं, समाज का भी नहीं। नारी ने विद्रोह किया कभी तो अकेले, सघर्ष मे चूर हो गई। संगठन की शक्ति होती तो वह सफल होती—जरूर होती।

पर उसे इस समय पति की बात सुनते ही जाना है। और सुनकर, जैसा वह कहे, करना है। जो कुछ उससे हो गया है, भला या बुरा, परिणाम उसका भुगतना ही होगा। देवेन्द्र थोड़ी देर एकटक उसकी ओर देखता रहा, फिर कहा—ऊर्म्मि, बात करना मुझे कभी नहीं आया। जो शब्द जैसे मुँह मे आते है, बाहर निकल पडते है। तुम्हारा हृदय दुखाना मेरा ध्येय कभी नहीं रहा। अनूप को तुम चाहती हो, यह मैं जानता था। यही चाहता था कि कभी तुम स्वय चर्चा करो या कुछ देखूँ तो अपना बात तय करूँ। आज मैंने अपना कर्त्तव्य निश्चित कर

लिया है। क्या निश्चित किया है, यह शीघ्र ही जान लोगी। केवल इतना समझ लो कि मेरे निश्चय से तुम्हारा कुछ अनिष्ट न होगा। तुम अब से अधिक सन्तुष्ट और सुखी होगी।

उर्म्मिला सिहर उठी। निश्चय क्या होगा, यह वह नहीं जानती पर उसके मन ने कहा, उसके विरुद्ध ही कुछ होगा। तब वह केवल देवेन्द्र की ओर देखती रह गई। रात ज्यादा भीग आई थी, देवेन्द्र ने जेब की घड़ी से देखा-तीन बज रहे हैं। कहा—सोना नहीं है क्या ऊर्म्मि? बातों में देखो तो, रात कितनी गुजर गई!

यह देवता है, राक्षस है या मनुष्य है! उर्म्मिला को लगा इस व्यक्ति का हृदय उदार तो है ही, उसमें समस्त विश्व की करुणा, ममता और महानता दबी पड़ी है! पुरुष है वह, स्वाभाविक ईर्ष्या उसमें है पर उसके प्रकाशन का ढंग सहानुभूति पूर्ण है! दूसरों की भावनाओं का मूल्य वह दे सकता है, उसका चाहे जो हो।

गर्म शारदीया थी। नन्हे से आंगन में चंद्रक की किरनें खेल रही थीं। किरनों के झिलमिल जलराशि में कमल-सदृश उर्म्मिला का मुख दीख रहा था—चारपाई पर तकिए के सहारे वह लेटी हुई थी। बच्चा स्तनों से चिपका पड़ा था, सो गया था। देवेन्द्र बाहर के कमरे में बैठा, न जाने क्या कर रहा था। उर्म्मिला एक बार निशानाथ को देखती, एक बार अपने नन्हें से, टूटे से घर

को। चन्द्रवतुंल में वह देखना चाहती थी पति का मुख, थोड़ी देर तक दीखता भी पर शीघ्र ही वह परिवर्तित हो जाता अनूप के मुख में—और तब वह चौंक उठती। क्या अनूप उसके जीवन में इतना गहरा बस गया है? उसे याद आया—इसी अनूप ने कभी एक दिन उसे, उर्म्मिला को समूची पाना चाहा था। तब, जब उर्म्मिला चाहती तो थी कि उसके निकट खिँच आए पर सस्कारो का मोह भी उसे था, अवसर भी नहीं था और शायद, .. ...तभी उर्म्मिला अपने को सम्हाल ही लेना चाहती थी, ऐसा न हो कि बात बढ़ जाए। वह दूर दूर रहती। अनुप ने बहुत तग किया था, परीशान हो तब उसने एक चिट पर लिख दिया था—मुक्त आकाश में विचरण करने वाला विहग पिँजरे के पछी की मनोव्यथा, तन की दशा अनुभव कर सकने मे सर्वथा असमर्थ है। मैं क्या नहीं करना चाहती तुम्हारे लिए, पर कैसे करूँ अनूप! अवसर आने पर सब कुछ सभव है। अनूप तब उसकी विवश-भावना जान चुप रह गया था। आह-ऊह मे रात कटती, उर्म्मिला पति के अक से सटी पडी रहती—वेश्या बनी, जिसे अपने वेश्यापन के लिए समाज से बाकायदा लायसेंस मिला है। लोग जानते हैं, जानते थे कि कहाँ क्या हो रहा है पर बोल कुछ पाने की आवश्यकता किसी को नहीं। वेश्यागमन के लिए यह खुला प्रोत्साहन था पर 'कुलवधू' शब्द की आड़ मे, एक नर के साथ! उस नर पर उसका समूचा उत्तरदायित्व डाल दिया गया, कहा

गया कि तू उसकी इच्छा बिना नहीं चल सकेगी। पर अनूप फिर बीच में आया और ले आया साथ में अतीत की सारी मंजुल अनुभूतियाँ। बच्चे की दीवार लाँघकर उर्म्मिला के जीवन की अमराई में प्रविष्ट होने वाला वह अनूप तब गहरे ही उतरता गया, उर्म्मिला का मन उलझता ही गया और परिणाम था उर्म्मिला का सम्पूर्ण आत्मसमर्पण, विवश नहीं, स्वेच्छाजन्य! इतनी श्रेणियाँ पार कर आज जब वह उस स्थान पर आकर खड़ी हुई है जहाँ से पीछे मुड़कर देखने पर वह स्वयं अपनी स्थिति पर विचार करने को बाध्य हो जाती है, लोग उसे कलंकित और अपमानित कर पाने का सुयोग ढूँढ़ते हैं। उससे प्रश्न किए जाते हैं और उसे समझाया जाता है कि तू स्वतंत्र होकर चाहे जो कर, यों नही। तो, बात तो यह सही ही है। यदि देवेन्द्र का निर्णय इस ओर सकेत करता है तो उसे कोई आपत्ति नहीं, यदि वह स्वयं ही मार्ग भी दिखा दे। तब अनूप के साथ

लेकिन अनूप के साथ क्या? वह चाहे भी, अनूप क्या उसे अपने पास रखने को प्रस्तुत हो सकेगा? अपनी पत्नी को क्या करेगा? मान लो, उसे भी अनूप किसी तरह सहमत कर ले, किन्तु उर्म्मिला ही तब. समस्त पारिवारिक और सामाजिक लांछन और अपवाद ले, बच्चे के साथ, उस व्यक्ति के सम्पर्क में रह सकेगी, जो उसका कोई नहीं! शय्या सगी नही, कोई सगा सम्बन्धी नहीं, मित्र तो वह हो ही नहीं सकता। वह नारी है, और हमारे समाज में पुरुष की स्त्री से मित्रता नहीं हो सकती,

और चाहे जो हो।

देवेन्द्र उठकर भीतर आया। निश्चय जो उसने किया था, उर्म्मिला से उसने अभी बता देना चाहा। वह भ्रम में न रह जाय। चारपाई पर बैठते हुए बोला—क्यों ऊर्म्मि, बच्चों को हिन्दी तो तुम पढ़ा सकती हो ?

क्या मतलब ?—ऊर्म्मि ने इधर घूमते हुए कहा।

मेरा मतलब यह है कि यदि कहीं तुम्हारे लिए ऐसा प्रबन्ध हो जाय जहाँ लड़कियों को थोडी बहुत हिन्दी पढ़ा देने से कुछ रुपये मिल सकें, तो उस काम को निभा सकोगी या नहीं ?—देवेन्द्र ने पूछा।

पढ़ा सकती है वह पर इस समय इस प्रश्न का मर्म वह नहीं समझ पा रही है। वह बोली—पढ़ा तो लूँगी यदि अधिक योग्यता की जरूरत न हुई, पर इस समय इस प्रश्न की क्या जरूरत है ? मुझे पढ़ाना कहाँ है ?

पढ़ाना है ऊर्म्मि ! और कोई काम तुमसे बनेगा नहीं तभी ऐसा कह रहा हूँ। पारिश्रमिक के थोडे से रुपए तुम्हें वह बल और सन्तोष प्रदान करेंगे जो ऐसे तुम्हें नहीं मिल सकते। आज जो वस्तु—जो काम तुम्हें छिप कर करना पडता है और इसी-लिए जो तुम्हारे सामने पाप के रूप में आता है, वह तब सहल हो जायगा। देखोगी कि तुम्हारा समूचा दृष्टिकोण ही बदल जायगा।—देवेन्द्र ने कहा।

उर्म्मिला का चुप रहना अब अधिक सभव नही। पूछ ही वैठी, वात वह कुछ कुछ समझ रही थी—लेकिन दृष्टिकोण वदलने की ऐसी आवश्यकता ही क्या आ पडी? आज तुम कैसी वातें कर रहे हो? यह पाप पुण्य……

वात न वढ़ाओ ऊर्म्मि! तुम्हारे नियमित जीवन के स्खलन को मै गर्हित नहीं कहता, न उसे लेकर ऊहापोह ही मचाना चाहता हूँ। केवल तुम्हारे लिए पथ मुक्त कर देना चाहता हूँ। और अनूप? उस पर मैं वहुत विगड़ पड़ा था। उसे चले जाने तक को कह दिया। पर वाद में सोचकर देखा, यह केवल मेरा सस्कार था। नारी के तन के प्रति भूख जागना नर के लिए स्वाभाविक है, फिर वह नारी कोई भी हो। नियम वन्धन केवल व्यवस्था वनाये रखने के लिए हैं, स्वभाव पर वधन उनका नहीं चलता। स्वभाव पर नियन्त्रण हो सके, ठीक है, न हो सके तो आत्म-हनन करने की अपेक्षा आत्मतुष्टि का साधन पा लेना अधिक कल्याणकर है। अनूप का कोई दोष नहीं। वह स्वस्थ, साधारण मनुष्य है और स्वस्थ मनुष्य की स्वाभाविक भूख उसके मन में जागना उसके पौरुष का सूचक है, पाप का नहीं। उसने जो कुछ किया, ठीक किया। अव सोच रहा हूँ, पुरुष होते हुए भी वह सस्कार झटकार कर दूर क्यों नही फेंक दे सकता फिर तुम तो नारी हो। युगों से जो कुछ तुम्हें—तुम्हारी जाति को सिखाया गया है उसी पर तो तुम्हें चलना है न? यही चीज गलत है। मैं ही जव अपने को भूल वैठा और इस चीज

को बहुत बड़े अपराध के रूप मे लिया तो तुम्हे क्या कहूँ ?

देवेन्द्र चुप हो गया। लगा कि उसका मुख कुछ कठिन हो आया है, वह कुछ दृढ़ निश्चय कर चुका है जिसकी छाया आँखों मे, अधरो पर और एक एक भंगिमा पर खेल रही है। उर्म्मिला एकटक उसकी ओर देख रही थी। अब, जब वह चुप हो गया तो उन्नत दृष्टि उर्म्मिला की नत हो गई। न जाने कौन से अपराध की गुरुता उसके मन-प्राण को बोझिल किए पड़ी थी। देवेन्द्र के प्रति उसे अपना यह कृत्य जितना उत्तरदायित्व-पूर्ण नहीं लगता था उतना उस छोटे से, भोले से शिशु के प्रति लगता था, जो माता की मनस्थिति से सर्वथा अनभिज्ञ, स्तनो मे मुँह लगाए मीठी नींद सो रहा था। पत्नीत्व के आवरण मे ढुबकी नारी भले ही इस पर-पुरुष सम्बन्ध से लांछित न हुई हो--आखिर पतिपत्नी का सम्बन्ध इसी नींव पर ही तो खड़ा होता है—पर उसे लगा, मातृत्व के गढ के भीतर वन्दिनी नारी अपमान इससे अवश्य हुआ है। जब तक शासन व्यवस्था ो का भार लेने को प्रस्तुत नही और पत्नी रोटी कपड़े के पति पर आश्रित है तब तक बच्चे के ही लिए सही, पत्नी सर्वांशतः पति की होकर रहना ही होगा।

देवेन्द्र उर्म्मिला के शरीर पर हाथ फेरता जा रहा था। कहने लगा—ऊर्म्मि, मुझे इस कल्पना से ही सुख हो रहा है कि तुम अब एक स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करोगी। मुक्त वातावरण मे तुम्हारा नारीत्व सफल ही होगा, कुंठित न होगा, यह तुम स्वय

अनुभव करोगी। पतित्व की झूठी धारणा मे मै जो कुछ कह गया होऊँ, उसके लिए मुझे क्षमा कर देना। तुम कमाओगी, आत्मिक बल तुम मे होगा, हर काम के लिए किसी का मुँह जोहने की आवश्यकता तुम्हे न होगी। उस दशा मे, चाहो मेरे साथ ही रह सकती हो, चाहो तो अलग घर भी ले सकती हो। अपनी ओर से मैं सम्बन्ध भी वही बनाए रहूँगा। यह तुम पर निर्भर है कि सम्बन्ध रखना चाहोगी या नहीं। न चाहोगी तो तुम्हारे जीवन से वैसे ही मिट जाऊँगा जैसे कभी के देखे हुए किसी सुन्दर चित्र की स्मृति धुँधली हो, मानस से धुल पुँछ, साफ हो जाती है। तुम पर मेरा कोई बन्धन न होगा न मुझ पर तुम्हारा। रह गया यह, मेरा लाल—यहाँ देवेन्द्र ने झुक कर बच्चे का मुँह चूम लिया—इस पर हम दोनो का समान अधिकार होगा, समान स्नेह होगा और समान ही व्यय भी होगा। तब तक, जब तक कि तुम मेरे साथ रहोगी। न रहने की दशा में, तुम चाहोगी तुम्हारे पास रहेगा, नहीं मैं ही बोझ उठा लूगा। सरकार अभी हमारी उन्नत नहीं, यदि होती तो शासन के हाथो इसे सौंप हम निश्चिन्त हो सकते थे। तुम से यही चाहूँगा कि अपना उदाहरण अपनी प्रत्येक बहन के सामने रक्खो, कहो कि यही उपाय सही है। आत्म-दमन कभी सही रास्ता नहीं है।

उर्म्मिला पिंजरे की पछी थी, देवेन्द्र मुक्त नभचारी विहग। विहग बोल रहा था—पछी कान खोले प्रत्येक शब्द पी रहा था।

और जब ऊषा की किरणें आँगन मे खेल उठी, दोनों एक दूसरे की ओर देख रहे थे। बच्चा जाग पडा, देवेन्द्र की ओर हाथ उठा, बोला—पापा।

उर्म्मिला ने बच्चे को देवेन्द्र की गोद मे डाल दिया और उठ कर चली गई।



## आठ

ज्योति असमञ्जस मे थी। इस साथी-सगी-विहीन स्थान पर वह ठहर तो गई होटल में पर मन यहाँ भी उसका ऊवने लगा। सखी-वखी का तो सब वहाना था, आई थी जी वहलाने किन्तु वह और उलझ गया। जीवन को वह निकट से देखना चाहती थी, यहाँ एकान्त में उसका अवसर भी था किन्तु अपने को ही लेकर व्यस्त हो उठी। दिन दिन भर कमरे मे पडी रहती। होटल वालों को भी आश्चर्य होता, कही से इतने साज सामान के साथ आई हुई अकेली नारी--साथ मे नौकर—यो चुपचाप कमरा वन्द किए क्यो पडी रहती है ? होटल का नौकर जब वह मोटा रजिस्टर उसके सामने खानापूरी के लिए ले आया था, उसने लिख दिया था--कुमारी रेखा, चित्रा सिनेटोन, वम्बई। उसके अकेले रह पाने के प्रति कुतूहल तो होटल वालों का कम हो गया, पर अभिनेत्री के गुणों का अभाव उसमे पाकर वह चकित जरूर होते थे। न वह किसी से वोलती, न हँसती, न होटल का खाना ही खाती—कभी कभी चाय आदि जरूर मँगवा लेती थी। कई वार होटल के अन्य अधिकारियो ने उसके समीप पहुँचना चाहा.

वह दूर ही रहती। बाद में उसे यह झिझक भी दूर कर देनी पड़ी। अपना कृत्रिम रूप सफल बनाने के लिए अब उसे कभी-कभी लोगों के दिए सिगरेट भी स्वीकार कर लेने पड़ते थे।

ऐसे भी कितने दिनों चल सकता था! जिसे कुछ सन्देह न होना हो उसे भी हो जाय! पड़े पड़े भी वह ऊबने लगी थी। उसने एक टैक्सी किराए पर की, काम था रोज़ शाम को उसपर घूम आना। रुपए काफ़ी घर से लेकर आई ही थी, शाम को चार पाँच बजे निकल जाती और दो तीन घण्टे बाद लौटती। नौकर साथ होता। नगर के विभिन्न भागों का चक्कर लगा कर जब वह रात को कमरे में आ बैठती उस समय उसका मन नए सिरे से हाहाकार कर उठता। घूमने फिरने का निर्णय उसने एक और इरादे से किया था। मन जो बहलता वह तो था ही, साथ ही यह भी था कि शायद कहीं अनूप दिख जाय। यद्यपि यह उसे कुछ नहीं कि वह कहाँ है, उसे पहचानती भी नहीं, फिर भी चाहती थी, मिलना चाहती थी। मिल जाय तो देखे, वह कैसा है जो उसके ही कारण घर छोड़ कर, स्त्री छोड़ कर, पिता और बहन त्याग कर चला आया है। जाने कि कैसे हैं उसके ...नो जो उससे इतना बड़ा काम कराने में सफल हो सके हैं। कहे कि मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो—मेरे ही जैसी न जाने कितनी अभागिनें रह रही हैं—तुम क्यों अपनी भरीपूरी गृहस्थी मिट्टी में मिला रहे हो? और किसी का ख़याल न करो, कम से कम अपनी उस विवाहिता का ख़याल करो जो तुम्हारे अतिरिक्त और

किसी को नहीं जानती। तुम घर लौट चलो, चल कर रहो, अपने पिता को सन्तोष दो, बुढ़ापे में मेरी अवज्ञा और अवहेलना से उन्हें और कष्ट होगा। यही सब वह सोचती और प्रतिदिन टैक्सी की खुली खिड़की की राह उसकी उत्सुक दृष्टि पथ पर बिछी रहती। प्रत्येक राहचलते युवक में वह अनूप को पाती, लगता कि वह मोटर के पास आ रहा है पर पास आते आते जब वह बगल से निकल जाता तो वह समझ लेती, अनूप वह नहीं।

आने पर प्रभा को उसने एक पत्र भेजा था। लिखा था कि अमुक होटल में वह है, पिता से वह इस विषय में कुछ न बताए, कहे कि माँ आने ही वाली है और कोई ख़ास बात हो तो लिखे। यह भी कि सावित्री से कह दे, अनूप का पता लगाने की वह पूरी चेष्टा कर रही है। सूचना कुछ मिलते ही खबर देगी। प्रभा ने उत्तर में लिखा था—पिताजी को उसने समझा दिया है कि माँ आने ही वाली है, यद्यपि उन्हें आश्चर्य ज़रूर हुआ, ज्योति ने उन्हें पत्र न लिख कर प्रभा को क्यों लिखा।

होटल के बरामदे में जो नोटिस-बोर्ड है उसमें कुछ कार्ड लगे हुए हैं। प्रत्येक कार्ड पर रूम नंबर और फ़िलहाल कमरे के मालिकों का नाम दिया हुआ है। जिस दिन ज्योति अपना कार्ड उसमें लगाने गई, सरसरी दृष्टि से सब नामों को देख गई। नव नम्बर का कमरा ठीक उसके कमरे के सामने है। उसमें कोई रहत है जो पत्रकार है, अखबारों का रिपोर्टर है, लेखक है, नाम

है जीवन कृष्ण। इन गुणो वाले जन्तुओ को वह खूब जानती थी। समझती थी कि इनका मस्तिष्क एक विशेष प्रकार के अणु परमाणुओं से निर्मित होता है और ये किसी दूसरी दुनिया मे रहने वाले होते हैं। तिल का ताड़ बनाना ही इनका व्यवसाय है। सो, यह कोई भी हो, इनसे वह बच कर ही रहेगी। कहीं उन्हें कुछ भी पता लगा, किसी पत्र मे उसके दाम्पत्य-जीवन की असफलता का सवाद मोटे हेड-लाइनों में देते उन्हे देर नहीं लगेगी। और तब उसकी स्थिति कठिन हो उठेगी। पर लाख बचाए वह, रोज़ रात को जब वह देखती है कि वह युवक कमरे में मेज़ के सामने झुक, बडी रात गए तक कुछ लिखता है, कुह-नियों पर सिर टेके कुछ सोचता है, कभी गुनगुना उठता है, कभी टहलने लगता है और अन्त मे, इन सब से हार थक चारपाई पर लेट रहता है, लाइट बुझ जाती है, और द्वार की चिक के बाहर की प्रकाश किरणें लौट जाती हैं, तब जाने क्यो ज्योति के मन मे उस अजनबी के प्रति एक सजग कुतूहल जाग उठता है। सवेरे फिर वह उसे चाय पी बाहर निकल जाते देखती है और रात को फिर वही क्रम। लौटता है तो हाथ मे अखबारो का पुलिन्दा ज़रूर होता है। ज्योति को लगा, अब वह उसका परिचय पाये बिना न रह सकेगी, जैसे वह बाध्य कर रहा है कि ज्योति उसका परिचय पाए ही। साधारण जन की तरह नपे तुले कायदो से बँधा वह भी चलता तब शायद ज्योति के मन मे उत्सुकता न जागती, पर उसकी विशृंखलता ही नैकट्य

ब्वॉय युवक के लिए ट्रे मे चाय लाया। कप एक ही था। एक कप के लिए ब्वॉय से और कह कर युवक ने ज्योति को देख कर मुसकिरा दिया। ज्योति ने पूछा—क्यों, हँसे क्यों ?

यही कि मैं कितना लापरवाह हूँ। सामने के कमरे मे ही आप थीं और मैं आज तक न जान पाया। परिचय मुझे पहले प्राप्त करना चाहिए था।—युवक ने कहा।

कहना चाहा ज्योति ने कि यह बात नहीं। वह इसके पहले कई वार सोच चुकी थी कि परिचय प्राप्त कर ले, युवकों से परिचय प्राप्त करने मे उसे जाने क्यों अच्छा लगता है, युवक की अन्यमनस्कता ने उसे परिचय जानने को और भी बाध्य कर दिया था, और आज के पहले वह उसके निकट न आ सकी, यह दुर्भाग्य ही है, पर कह न सकी ! जाने वह युवक उसे क्या समझे। प्रथम परिचय मे ही इतनी मुखरा हो उठना नारीत्व के विरुद्ध होगा, ऐसा ही उसे लगा। बात टालते हुए बोली--हाँ, आपके पास पिछले महीने की 'माधुरी' होगी ? ज़रा एक चीज़ देखना चाहती हूँ।"

हाँ, हाँ, अभी निकालता हूँ—कह कर उठा जरूर युवक, पर हुआ यही कि माधुरी की वह सख्या खोज निकालने की चेष्टा मे कमरे मे एक अच्छा खासा भूकम्प आ गया। इधर की चीज़ उधर और उधर की चीज़ इधर, कपड़े, जूते, किताबें, सबने मिल कर ऐसी विश्रखलता ला दी कि ज्योति ज़ोर से हँस पड़ी। हसने का कारण एक और था। इस विशृखलता के बीच भी

इच्छित वस्तु न मिल पाने के कारण युवक के मुख पर जो निराशा के भाव आए वह और भी हास्योत्पादक थे। ज्योति की हँसी सुन कर युवक कमर पर एक हाथ धर, खड़ा हो गया और दूसरे से सिर खुजलाने लगा। ज्योति ने कहा--आइए, हो चुका चाय ठण्ढी हो जायगी।

कप मुँह से लगा कर दो तीन सिप युवक ने लिए, फिर टेबुल पर रख दिया। सिगरेट की जरूरत उसे पड़ गई थी। सुलगा कर एक मुँह से लगाई। ज्योति बराबर उसकी ओर देखती रही। जब वह दुबारा पीने लगा तो बोली—इसी से कहती थी, कमरा साफ होने की ज़रूरत है। इस दशा में तो एक भी चीज़ न मिलेगी।

युवक को कुछ याद आया। बोला—बहुत दिन पहले एक अंग्रेजी किताब पढ़ी थी। एक घटना उसमें भी ऐसी थी। एक युवक से उसके कमरे की विशृंखलता देख कर किसी स्त्री ने ऐसा ही प्रश्न किया था। उसने क्या उत्तर दिया था, जानती हैं आप? कहा था—हम कुमार लोग जानते हैं कि अपने कमरे कैसे सजाए जाते हैं। यह तो वही हुआ। सो, मेरे कमरे की यह सजावट देख कर आपको कुछ आश्चर्य न होना चाहिए। जो है, सब ठीक है।

बात बहुत सीधी थी। कुमार जीवन के प्रति बहुत अंश तक अनुत्तरदायी होता है। उसके रहन-सहन का ढंग कुछ विशृंखल होता ही है--होना चाहिए। नपे तुले कायदे कानूनों से बँधकर

वह नहीं चलता, और तभी हर तरह की व्यवस्था के प्रति उसका विराग ही होता है। ज्योति को भी यही समझाना चाहिए था, पर उसे लगा, युवक के कहने में युवकोचित स्वभाव-जन्य-विराग कम, गम्भीर निराशा और असफलता की बात ही अधिक है। ऐसा क्यो लगा, युवक के किस शब्द से वह यह अर्थ निकालने में सफल हो सकी, यह तो वही जाने। फिर भी उसे लगा, युवक अपने जीवन में कोई रहस्य छिपाए है। जानने का कोई साधन न होने से उसे चुप ही रह जाना पड़ा।

युवक ने हाथ की घडी देखते हुए कहा—अच्छा, अब मेरे आफिस जाने का समय हो रहा है। अभी नहाना है, खाना खाना है। आपने जो परिचय का सौभाग्य दिया उसके लिए धन्यवाद। आशा करता हूँ, फिर दर्शन होगा। आप कहीं आती जातीं तो नहीं न ?

नहीं, केवल शाम को थोडा घूमने फिरने जाती हूँ। अच्छा, आज आप शाम को कितने बजे वापस आएँगे ?—ज्योति ने पूछा।

एक वार तो पांच साढे पाँच बजे जरूर आऊँगा। फिर देखा जायगा।—युवक ने कहा।

ज्योति—फिर उसके बाद आप कहीं न जाइएगा। मेरे साथ चलिएगा।

कहाँ ?

सिनेमा। आज जी बहुत उद्विग्न है। थोड़ा बहल जायगा।
—ज्योति ने कहा और उठ गई।

दिन भर ज्योति सोचती रही। आज उसने एक युवक के बन्द जीवन-इतिहास का पृष्ठ खोला है—खोलने की चेष्टा की है। परिणाम क्या होगा, यह वह नहीं जानती। जो भी हो, जब स्वयं ही बढ़कर वह आगे आई है तब अन्त तक चलकर देखना ही होगा। और युवक—अनूप—दिन भर अपने समस्त कार्यों के बीच मन का एक अंश ज्योति की ओर लगाए रहा। उसके सामने क्रम से सावित्री का, उर्म्मिला का और इस नई नारी मूर्ति का मुख स्पष्ट होता रहा। लगता था कि यह नई परिचिता भी उसके जीवन में कुछ होकर ही रहेगी। यह अल्प परिचय यहीं समाप्त न होगा। आरम्भ ही ऐसा हुआ है कि अन्त की कल्पना असम्भव नहीं, स्पष्ट है। आज इस नारी ने सहसा ही लज्जा संकोच को दूर ठेल जो सिनेमा साथ चलने का निमंत्रण दे डाला है, वह इस बात की भूमिका है कि बात समाप्त नहीं हो रही। नई शिक्षा की पढ़ी लिखी लड़कियाँ भी उसके जीवन में आई थीं पर प्रथम परिचय में इतना आगे बढ़ पाना किसी के लिए संभव न हुआ। जाने को तो वह सिनेमा चला जायगा, उसके लिए लड़कियों के साथ सिनेमा जाना कोई बड़ी बात नहीं पर पुच्छलतारा की भाँति, पीछे की घटनाओं की संभावना उसे व्यग्र करने लगी। पल भर के लिए उसके जी में यह भी आया कि सावित्री के प्रति यह सब विश्वासघात हो

रहा है। किन्तु यह विचार अधिक न टिक सका। सोचा, सावित्री उसके साथ कर्त्तव्य से बँधी है, उस कर्त्तव्य मे प्रेम हो तो ठीक, न हो तो कोई पाप नहीं। और उसके यह कार्य उस वस्तु की खोज में हैं, जो कोरे कर्त्तव्य मे नही भी मिल सकते।

सिनेमा तो एक उपकरण मात्र था, गई थी ज्योति युवक के साथ अधिक से अधिक रह पाने के लिए। वगल वगल की सीट पर वैठे हुए दोनो दो विचारो मे लीन थे। अनूप—कृत्रिम युवक—की इच्छा हो रही थी, ज्योति का हाथ 'अपने हाथो मे ले ले, युवक के सामीप्य से रोमांचित उस अतृप्त-काम, भूखी प्यासी ज्योति की इच्छा हो रही थी, युवक को अपने शरीर का पूरा लाभ उठाने दे, पर दोनो सस्कारो के पुतले, ऐसा न कर सके। फिर सिनेमा-हाल इसके उपयुक्त स्थान नहीं। इस कार्य के लिए समय चाहिए, अवसर चाहिए, घनिष्ठता चाहिए। यो तो, वलात्कार भी दुनिया मे होता ही है।

इन्टरवल मे ज्योति ने कहा—चलिए, वाहर चलकर चाय पीएँ।

युवक को हिचक हुई। टिकट के रूपए भी ज्योति ने ही दिए थे। अव, यह तय था, जलपान के पैसे भी वही देगी। पर उसे कहना ही था—चलिए।

चाय पीकर ज्योति ने कहा—सिनेमा मे तो जी नहीं लगता। चलिए, घूम आए। मेरी टैक्सी खड़ी है।

मोहाविष्ट युवक चुपचाप कार पर आकर बैठ गया, ज्योति बगल में बैठी। शोफर से कहा—शहर के बाहर ले चलो।

रास्ते मे कितनी ही बार ज्योति के हाथ युवक की गोद मे गिरे, कितनी ही बार युवक के अधर हिल कर रह गए। नगर के बाहर जब एक स्थान पर शोफर ने गाड़ी खडी कर दी तब दोनो की तन्द्रा टूटी। सामने ही यमुना की श्याम जलराशि बिखरी पडी थी। नीरवता की चादर मे वह बड़ी भली लग रही थी। दोनो-गाडी से उतर गए। टहलते हुए युवक ने कहा—क्षमा करे, मैं अब तक आपका नाम न जान सका। पूछने का स्मरण ही न रहा।

रेखा!—ज्योति ने कहा।

रेखा! कितना सुन्दर नाम है, अनूप सोच उटा। रेखा जैसी ही तन्वि, कनकछरी! उसका कितना बडा भाग्य है जो इस नारी ने उसे परिचय योग्य समझा। उसमें क्या कुछ ऐसा है जो युवतियो उसके समीप आएं

और आपका?—ज्योति ने जानते हुए भी पूछा।

जीवन कृष्ण!—युवक का उत्तर था।

दोनो दोनो से झूठ बोले। पर दोनों के झूठ ने उन्हे और समीप ला दिया--नर और नारी के रूप मे! दोनो दोनों को पहचानते नहीं। दुनियावी नाता का उन्हें पता नहीं, तभी एक नए नाते के सूत्र मे दोनों गुँथ गए। युवक ने कहा—तो आप यहाँ घूमने फिरने आई हैं? अभी कब तक रहिएगा? आपके पिता माता.........

ज्योति ने आनन्द लेते हुए कहा—हाँ, घूमने फिरने ही आई हूँ और अभी ज्यादा दिनों यहीं रहने का इरादा है। माता पिता को जान कर क्या करेंगे, मुझे आपने जान लिया यही बहुत है। हाँ, आप यहाँ क्या करते हैं?

मैं यहाँ अखबारों का रिपोर्टर हूँ। उसी से जो कुछ मिल जाता है, काम चलता है।—युवक ने उत्तर दिया।

ज्योति को जाने क्या सूझा है। कह उठी—देखिए, मुझे ज्यादा दिनों यहाँ रहना है। सोचती हूँ, क्यों न एक मकान किराए पर ले लूँ। नौकर साथ है ही!

हाँ, ठीक है। मुझे तो आपके माता पिता पर श्रद्धा होने लगी है। वे कोई भी हो, अपनी युवती पुत्री को जो स्वतन्त्रता उन्होंने दी है वह श्लाघ्य है।—अनूप कह उठा।

ज्योति कैसे बताए कि यह स्वतन्त्रता दी हुई नहीं, बरबस ली हुई है। और माता पिता ने नहीं, बल्कि पति ने उसे यह स्वतन्त्रता प्राप्त करने को बाध्य किया है। उस रात और क्या हुआ, यह बढ़ा कर बताने से विशेष लाभ नहीं। केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि परिस्थितियों ने उन्हें विवश किया। और जब रात को अपने कमरे में चारपाई पर ज्योति पड़ी, वह अपने कपोलों पर वासना का एक जलता निर्माल्य—चुम्बन—का अनुभव कर रही थी। उसकी नस नस सिहर रही थी, आज उसे एक युवक का गर्म चुम्बन मिला था।

---

## नव

सदाशिव के जीवन में नवीन परिवर्तन हुआ। सावित्री के प्रति उनका प्रेम सहसा बढ़ गया। अब वे यह चेष्टा करने लगे कि वह हर तरह सुखी रहे। अनूप का अभाव उसे अखरे नहीं। भीतर ही भीतर वह अपने ऊपर कुठित भी हो आने लगे, हर-दम सोचते रहते कि घर की इस सारी अव्यवस्था के एकमात्र कारण वह हैं। सावित्री के अपमानित सुहाग, ज्योति के अतृप्त तन-मन की आग और अनूप के ऐच्छिक विराग, इन सब के मूल में उन्हें अपनी कलुषित वासना का राग ही सुन पडता। प्रभा का अभी विवाह करना था। भाई के चले जाने से वह भी, जैसे, पिता से सदैव अनखाई ही रहती। ज्योति चली गई है। यद्यपि वहाना है सखी के यहाँ जाने का पर सदाशिव यह समझने लगे हैं, मूल में विरोध का ही हाथ है। सखी या मित्र के यहाँ थोड़े ही दिनो रहा जा सकता है, स्पष्ट सूचना दी जा सकती है पर यो दिन पर दिन बीतते जायँ और घर की याद भी न आए, यह सब क्या है! कई बार प्रभा से जानना चाहा पर वह जानते हुए भी जैसे कुछ साफ कहना नहीं चाहती!

सदाशिव को लगता है, उसे सब कुछ मालूम है। सावित्री को अब वे जब देखते हैं, एक हाहाकार उनके मन मे जाग जाग उठता है। उसे अच्छे से अच्छा वस्त्र लाते हैं, अन्य उपहार लाते हैं, शाम को उसे प्रतिदिन प्रभा के साथ घूमने जाने को कह दिया है, सिनेमा थियेटर सभी बात की सुविधा है पर वह, जैसे, इन सब मे अपने को उलझा नही पाती। कोई अभाव है जो उसे दिन रात खाए डाल रहा है, कोई कसक है जो रात की घड़ियो मे उसे आकुल-व्याकुल कर देती है, कोई माग है जो सदाशिव अपना सब कुछ न्योछावर करके भी नहीं तृप्त कर सकते। उनका प्राण भी चला जाय और सब कुछ व्यवस्थित हो उठे, यह भी वह चाहने लगे हैं। उनकी वासना ऐसे नगे नाच नाचेगी, यह वह कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

उस रात जब वह खाने बैठे, प्रभा पास थी। बल्कि उन्हीं के साथ खाने बैठी थी। सावित्री पास खडी देख रही थी—क्या चाहिए, क्या नही। सदाशिव अनमने से खा रहे थे; प्रत्येक ग्रास के साथ जैसे हलाहल निगल रहे हो। अन्त मे उनसे खाया न गया, छोड़कर उठ गए। जाते जाते कहते गए—बेटी, खाना खाकर ज़रा मेरे कमरे मे सुन जाना।

रात को सोने समय प्रभा को अपने कमरे मे बुलाना सदाशिव के लिए जिस तरह नई बात थी, प्रभा के लिए भी वैसी ही थी। सावित्री ने पूछा—यह आज क्यो बुला गए ?

क्या जाने !

देखती हूँ, बाबूजी का मन इधर किसी काम मे नही लगता। खाना भी ठीक ठिकाने नहीं खा पाते। यह बात क्या है?—सावित्री ने कहा।

प्रभा इस बात को जानती थी, तभी उसे लगता था, माँ के चले जाने का रहस्य और जल्दी न लौटने की बात वह अब अधिक न छिपा सकेगी। वह पिता हैं और उनका यह कष्ट वह कैसे सहन कर सकेगी? उसने तय किया मन ही मन, आज बात चलने पर सब कुछ स्पष्ट बता देगी। फिर, पीछे चाहे जो हो।

अपनी पलग पर उसे बिठाकर सदाशिव ने पूछा—बेटी, सच कहना, क्या तुम्हे ज्योति के बारे मे कुछ भी नहीं मालूम है? उसका कोई पत्र नही आया?

प्रभा एक बार झिझकी, फिर कह दिया—आया है पिताजी।

कहाँ से? क्या लिखा है?—सदाशिव बिछौने पर ज़रा उठते हुए, उत्सुक आखों से पूछ उठे।

प्रभा सब बता गई! किस तरह माँ गई हैं, क्या कह कर गई हैं, कहा गई और कहा ठहरी हैं सब सुनकर एक ठण्डी सास लेकर सदाशिव निश्चेष्ट, बिछावन पर आखे मूँदे रह पडे। थोडी देर योंही पडे रहने के बाद सहसा बोले—बेटी, कल मुशी दीनानाथ से कह देना, दो सौ रुपए ज्योति के पास और भेज दें। शायद उसे ज़रूरत हो। अकेले बाहर पडी हुई है, बिना रुपयों के कैसे चलेगा! तुम एक पत्र भी लिख देना, कहना,

सदाशिव को लगता है, उसे सब कुछ मालूम है। सावित्री को अब वे जब देखते हैं, एक हाहाकार उनके मन में जाग जाग उठता है। उसे अच्छे से अच्छा वस्त्र लाते हैं, अन्य उपहार लाते हैं, शाम को उसे प्रतिदिन प्रभा के साथ घूमने जाने को कह दिया है, सिनेमा थियेटर सभी बात की सुविधा है पर वह, जैसे, इन सब में अपने को उलझा नही पाती। कोई अभाव है जो उसे दिन रात खाए डाल रहा है, कोई कसक है जो रात की घड़ियो में उसे आकुल-व्याकुल कर देती है, कोई माग है जो सदाशिव अपना सब कुछ न्योछावर करके भी नहीं तृप्त कर सकते। उनका प्राण भी चला जाय और सब कुछ व्यवस्थित हो उठे, यह भी वह चाहने लगे हैं। उनकी वासना ऐसे नगे नाच नाचेगी, यह वह कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

उस रात जब वह खाने बैठे, प्रभा पास थी। बल्कि उन्हीं के साथ खाने बैठी थी। सावित्री पास खड़ी देख रही थी—क्या चाहिए, क्या नही। सदाशिव अनमने से खा रहे थे; प्रत्येक ग्रास के साथ जैसे हलाहल निगल रहे हो। अन्त मे उनसे खाया न गया, छोडकर उठ गए। जाते जाते कहते गए—बेटी, खाना खाकर ज़रा मेरे कमरे मे सुन जाना।

रात को सोते समय प्रभा को अपने कमरे मे बुलाना सदाशिव के लिए जिस तरह नई बात थी, प्रभा के लिए भी वैसी ही थी। सावित्री ने पूछा—यह आज क्यो बुला गए?

क्या जाने!

देखती हूँ, बाबूजी का मन इधर किसी काम मे नही लगता। खाना भी ठीक ठिकाने नही खा पाते। यह बात क्या है?— सावित्री ने कहा।

प्रभा इस बात को जानती थी, तभी उसे लगता था, माँ के चले जाने का रहस्य और जल्दी न लौटने की बात वह अब अधिक न छिपा सकेगी। वह पिता हैं और उनका यह कष्ट वह कैसे सहन कर सकेगी? उसने तय किया मन ही मन, आज बात चलने पर सब कुछ स्पष्ट बता देगी। फिर, पीछे चाहे जो हो।

अपनी पलग पर उसे बिठाकर सदाशिव ने पूछा—बेटी, सच कहना, क्या तुम्हें ज्योति के बारे में कुछ भी नहीं मालूम है? उसका कोई पत्र नही आया?

प्रभा एक बार झिझकी, फिर कह दिया—आया है पिताजी।

कहाँ से? क्या लिखा है?—सदाशिव बिछौने पर ज़रा उठते हुए, उत्सुक आखों से पूछ उठे।

प्रभा सब बता गई! किस तरह माँ गई हैं, क्या कह कर गई हैं, कहा गई और कहां ठहरी हैं सब सुनकर एक ठण्डी सास लेकर सदाशिव निश्चेष्ट, बिछावन पर आखे मूँदे रह पडे। थोड़ी देर योंही पड़े रहने के बाद सहसा बोले—बेटी, कल मुशी दीनानाथ से कह देना, दो सौ रुपए ज्योति के पास और भेज दें। शायद उसे जरूरत हो। अकेले बाहर पड़ी हुई हैं, बिना रुपयों के कैसे चलेगा! तुम एक पत्र भी लिख देना, कहना,

जितने दिनो चाहे, घूम फिर सकती है। रुपए जब जरूरत हो, मँगवा सकती है।

प्रभा स्तम्भित हो रही। उसका ख्याल था, सब सुनकर सदाशिव शायद उसे मार ही डालें, कहें कि तू कौन होती है घर के मामलो मे अक्ल खर्च करने वाली, पर जब यह सब कुछ न हुआ तो प्रभा अपने उस वृद्ध कुमार पिता पर गर्व से भर उठी। पूछा उसने धीरे से—बाबूजी, आप जायँगे वहाँ?

सदाशिव—कहाँ बेटी?

प्रभा—माँ के पास!

सदाशिव—नहीं, मेरे जाने से उसका उद्देश्य नष्ट हो जायगा। जिस भ्रम से मुक्त होने के लिए वह यहाँ से, मुझसे, दूर चली गई है वही फिर उसके सामने पड़ेगा। मै उसके हृदय की व्यथा समझता हूँ। मैं न जाऊँगा, बल्कि तुम पत्र मे यह भी लिख देना कि मेरी यही सम्मति है। हाँ, वह अपने को भूले नहीं, यह मैं अवश्य चाहता हूँ। वह ऊँची है, बहुत ऊँची है, उस उन्नत धरातल से यदि वह नीचे आई तो यह स्खलन मेरे लिए अपमानकर होगा। किसी अन्धे नियम और चिरन्तन संस्कार का विरोध होना ही चाहिए पर मर्यादा के साथ। विरोध मे यदि विद्रोही स्वय गिर गया तो विरोध का उद्देश्य ही जाता रहता है।

प्रभा एकटक अपने पिता को देख रही थी। उसने कुछ न समझा, कहा—मैं समझी नहीं बाबूजी, आपका क्या आशय है!

सदाशिव—तुम न समझोगी बेटी ! इन बातो को समझने के लिए ऐसी ही मानसिक स्थिति चाहिए। तुम केवल यह जानो कि ज्योति न आई होती तो मेरा अपने विषय का भ्रम कभी दूर न होता। उसने मुझे अपने बारे में सोचने का, समझने का अवसर दिया है। और मैं समझता हूँ, स्वय भी अपने को पूरी तरह जान लेन, पहचान लेने के लिए ही वह इस घर से दूर चली गई है। घर के बँधे जीवन में, नियमित पथ पर चलते हुए अपने को पहचाना नही जा सकता। परिवर्तन ही उसके लिए सब से अच्छा साधन है। यहाँ वह लोकलाज की चेरी पत्नी थी, बाहर मात्र एक युवती, नारी।

थोडी देर सदाशिव फिर चुप रहे। आँखें बन्द थी, मुख पर कठिन रेखाएँ बन-मिट रही थीं। लगता था कि किसी वस्तु से भीतर ही भीतर युद्ध कर रहे हों। अन्तर्द्वन्द्व की छाया मुख पर स्पष्ट परिलक्षित हो रही थी। यह भी लगता था, वे सहसा ही अनाथ हो गए हो, दाता से निभिक्षुक हो गए हों, स्वामी स दास हो गए हों। प्रभा को कुछ सूझ न पडता था। पिता की यह अवस्था उससे देखी न जाती थी। उस मन ही मन ज्योति पर झुँझलाहट हुई पर कमान से छूटा हुआ तीर फिर लौट कर नही आता। उसकी विचित्र परिस्थिति थी। विवाह कराने मे उसने योग दिया भाई की विरोधाग्नि पर पानी डाल, ज्योति के नारीत्व का अपमान कराया, अनूप के जाने मे योग देकर सावित्री के सुहाग को व्यर्थ कर दिया। अब ज्योति का पत्नी

जाने दे कर, आज पिता से सब कुछ कह दे कर यह विपत्ति ला खड़ी की। पिताजी कोई अनर्थ न कर बैठे! भावुकता उनकी पूरे उभार पर थी। वह क्या करे! अनूप भी पास नहीं! आखिर, परिस्थितियाँ क्या कराना चाहती हैं! इन सब अनर्थों को रोक दे, ऐसा कोई उपाय क्या अब वह नहीं कर सकती!

सहसा ही सदाशिव उठ कर कमरे में टहलने लगे। पंखा खोल दिया, उसकी हवा के नीचे कुर्सी खिसका बैठ गए। सिगार-केस से सिगार निकाल पीने लगे। प्रभा ने समझा, अब सब ठीक हो गया। बादल जो आए थे, चले गए। थोड़ी बूँदें पड़ीं, वर्षा न हुई, चिनगारियाँ उठी पर आग दब ही गई। वह यह नहीं समझ सकी, अन्धड आने के पहले की यह शान्ति है, मर घट की यह नीरवता है जिसके पीछे सम्पूर्ण ज्वाला का निवास है, एक भयकर भावी अनिष्ट और अमङ्गल की यह उपक्रमणिका है, सर्वनाश का आमुख और प्रलय का आरम्भिक है।

जैसे कई मन का बोझ उनकी जर्जर काया पर धरा हो, सदाशिव बोल उठे—ना, ना बेटी! यह एकदम अच्छा नहीं हुआ। अनूप मेरा, भविष्य को देख सकता था। उसने मुझे समझाया पर मैं तब अन्धा बना हुआ था। उसकी बात नहीं मानी। समझता था, वह युवक है और युवकोचित आवेश में वह यह सब कह रहा है। तब क्यों न समझा, इन विषयो में युवक हमको, अनुभवी वृद्धो को दस-बीस बरस तक सिखा सकते हैं। मैंने सुख के लिए ब्याह किया था, ज्योति को घर मे ले आया था।

चाहता था कि गृहस्थी की गाडी सुविधा से चले। यह न सोचा था कि ऐसा भविष्य मेरी राह देख रहा है। सुख के मूल में अभिलाषा का हाथ है। इच्छा का पूर्ण होना ही सुख है, न पूर्ण होना दु ख। और मैंने जिस इच्छा से व्याह किया था वह पूरी नही हुई, तभी यह दु ख है। इसे तो मुझे भुगतना ही होगा। बात मेरे तक ही रहती तब भी ठीक था पर तुम लोगो का भविष्य भी मैंने अँधेरा कर दिया। यही चिन्ता मुझे खाए डाल रही है। आज अनूप होता तो..

सदाशिव फिर चुप हो रहे, जैसे थोडी थोडी देर पर उन्हें बोलने और चुप रह जाने के दौरे हो रहे हो। प्रभा जा भी नहीं सकती थी, रुक भी नही पा रही थी। उठकर सदाशिव फिर पलॅग पर आ रहे, बोले—बेटी, जरा सावित्री को नहीं बुला दोगी।

प्रभा को मुक्ति मिली, एक सांस मे कमरे के बाहर निकल गई। सावित्री के कमरे में पहुँच कर देखा, किसी अज्ञात स्वप्न से आविष्ट वह मीठी नीद में सो रही थी, हाथ वक्ष पर बॅधे थे और अधर रह रह, कांप जाते थे। लाइट जलती ही रह गई थी, हाथों के नीचे एक कागज का टुकडा, छाती और स्तनो के उद्वेलन के साथ ही साथ उठता गिरता था। प्रभा की पग-ध्वनि से वह जाग पडी और वैसी ही पडी रही। प्रभा ने कहा—यह किसका पत्र लेकर ध्यान हो रहा है?

सावित्री बोली कुछ नही, मुसकिरा कर पत्र प्रभा की ओर बढा दिया। प्रभा ने देखा, विवाह के कुछ ही दिनों बाद का

लिखा हुआ अनूप का एक पत्र है। तब का, जब वह सावित्री के विषय मे एक मधुर भ्रम पाल रहा था। जब सावित्री उसके सामने समूची खुल नहीं पाई थी, उसकी वास्तविकता जब एक आवरण मे थी।

देखकर प्रभा ने कहा--चलो, बाबूजी तुम्हें बुला रहे हैं।

क्यो ?

क्या जाने आज उन्हे क्या होगया है। न जाने कैसी बातें कर रहे हैं, मैं तो डर गई।—प्रभा ने कहा। जैसे सावित्री के साथ रहने पर उसे कुछ सहारा रहेगा।

सावित्री--क्या कह रहे थे ?

प्रभा—उन्होंने ऐसा पूछा कि मैं नाहीं नहीं कर सका। माँ की सब बातें उन्हें बता दी। तभी से अजीब अजीब बातें कर रहे हैं। कहते थे, यह एकदम अच्छा नहीं हुआ। अभी मुझे बुला देने को कहा।

सावित्री गई तो प्रभा के साथ जरूर पर कमरे के द्वार पर ठिठक रही। भीतर जाने का यकायक उसे साहस नहीं हुआ। ने अन्दर जाकर कहा--बाबूजी, भाभी आगई।

आओ बेटी !

सावित्री भीतर आई और पलंग के पास खडी होगई। सदाशिव ने एक ओर प्रभा को और दूसरी ओर सावित्री को बैठा लिया और दोनो की पीठ पर हाथ रक्खे, आँखें मूँदे लेटे

रहे। वे दोनो कुछ बोल नही सकीं। थोडी देर इस तरह लेटे रहने के बाद वे उठे, पलॅग के सिरहाने तकिए पर उठग बोले—बेटी, आज तुम दोनो मेरे कार्यों पर आश्चर्य न करना। आज मै अपने आप मे नही हूँ। न मेरे पास अब गुप्त कहने को ही कुछ रह गया है। अनायास ही इतने सहज रूप से मेरा परदा खुल पडा है कि अब अधिक उसे ढाँके रहने की कोशिश बेकार ही होगी। जिस दिन ज्योति को पहले पहल मैंने देखा, समझ गया कि यह खुल खिल पाने की साध लिए कलिका, मुझ जैसे ठूँठ विटप पर शोभा नही देगी। इस अमरवल्लरी के लिए कोई दूसरा आधार चाहिए। मैंने उससे स्पष्ट कहा भी, पर नई नई ही वह संस्कारो में पले घर से आई थी, उसने मेरे पावों पर हाथ धर कहा था कि मुझे ऐसा न कहना चाहिए। मैं मूर्ख नहीं था, समझ लिया था कि यह उसका युवती हृदय-नहीं बोल रहा, संस्कार बोल रहे हैं। मैं चुप रह गया था। उसने चाहा कि अपने को भूल सके पर भूख का भोजन न मिल पाने से वह अतृप्त ही रही। और अतृप्ति ने ही उससे यह काम करा लिया। अब आज मुझे कुछ नहीं कहना रह गया है। उसने जो कुछ किया, ठीक किया, करना चाहिए था उसे यही। न करती तो अपने स्त्रीत्व का अपमान करती। मुझे कोई दुःख नही है। केवल यही सोच है कि उसने मुझ पर अविश्वास किया, मुझसे अपनी बात कही नहीं। खैर, हर आदमी का काम करने का ढङ्ग अलग होता है। उसने यही तरीक़ा ठीक समझा, यही सही।

प्रभा कुछ बोलना चाह रही थी पर सावित्री ने संकेत से उसे रोक दिया। सदाशिव फिर कहने लगे—बेटी सावित्री, तुम मुझे मन ही मन जो भी समझो, मै बुरा न मानूँगा। रोज़ सुबह तुम, अनगिनत हिन्दू स्त्रियो की भांति, सिन्दूर लगाती हो। पर मैं समझता हूँ बहू, यह नाटक है। रस्म है अतः उसे निभाना ही होगा। वह माथे पर से पुकार कर तुम्हारा उपहास ही करता है, उसमे वह आवेग नहो जो स्वभावत. होना चाहिए। अनूप मेरे ही कारण घर छोड कर गया है। यह मैं जानता हू, वह तुम्हे मानता नहीं, पर यहाँ रहने से यह सन्तोष तो तुम्हे था कि तुम्हारी निधि तुम्हारी आँखों के सामने है। जब चाहो, उसके पास पहुँच सकती हो। आज तुम्हारा यह सन्तोष भी मैंने छीन लिया। इतना ही नहो, सब कुछ होते हुए भी वह आज सबसे अलग जा पड़ा है। न जाने कहाँ दर दर भटक रहा है। मालूम नही, मेरे मरने के समय भी वह आएगा या नही !

बाबूजी !—प्रभा ने रोकना चाहा।

नहीं प्रभा, सच कहता हूँ। मैं उसे जानता हूँ। वह बड़ा हठी है। मन की एक साधारण हलचल से जो इतना बड़ा काम कर सकने मे समर्थ हो सकता है, वह साधारण व्यक्तित्व नहीं है। उसे साधारण कोटि मे रक्खा भी नही जा सकता। मैं यह भी जानता हूँ, उसका अन्य कितनी स्त्रियो से संबध है, मैं इस बात को टालता रहा। लोगों ने मुझसे इस बात की शिकायतें की, मैंने कह दिया कि मैं अपने कलेजे के टुकड़े को और लोगो से

ज्यादा समझता हूँ। मैंने कभी इसे पाप नहीं समझा। पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म, यह सब केवल बनावटी बातें हैं—असल चीज है सुख और तृप्ति की खोज। और सुख प्राप्त करने का साधन प्रत्येक व्यक्ति का अपना होता है। आदमी वही करता है जो उसे परिस्थितियाँ करने को बाध्य करती हैं। परिस्थितियो पर विजय पा सके, ठीक है। न पा सकने पर यह गर्हित कभी नही कहा जा सकता। अगर पाप कुछ होता तो वह क्या इससे भी बडा होता, जो मैंने ज्योति का जीवन नष्ट करके किया है?—सदाशिव ने कहा।

प्रभा न रुक सकी—बाबूजी, आज आपको हो क्या गया है? मैं माँ को आने को लिख देती हूँ। ऐसे तो आप पागल हो जायँगे!

सदाशिव हाथ के संकेत से रोकते हुए बोले—ना बेटी, ऐसा न करना। मुझे हुआ कुछ नही, केवल आज अपने को पहचान गया हूँ। ज्योति को घूमने दो, जितने रूपए वह चाहे, भेजो। मेरा सब कुछ उसके लिए है। और अनूप का पता यदि कहीं चले, उसे बुलाओ। मैं उससे क्षमा माँग लेना चाहता हूँ। मरने के पहले एक बार वह आ जाता तो मैं निश्चिन्त हो जाता।

क्षण भर रुककर उन्होंने कहा—बेटी, लाइट बुझा दो और जाकर सोओ।

## दस

देवेन्द्र दौड़ता हुआ आया, कहा—ऊर्म्मि, यह देखो।

उर्म्मिला उस समय चौके में थी, कुछ समझ नहीं सकी। आज कई दिनो बाद उसने पति का इतना प्रफुल्ल मुख देखा है, जैसे कोई अयाचित निधि पागए हो। कहा—क्या है?

चूल्हे के पास बैठे रहने से धूएँ के बादल उसके मुख पर मँडरा रहे थे। बाल की कई छोटी नागिन जैसी लटें इधर उधर गोरे, भरे गालो पर, कुडलाकार डोल रही थी। सिर की सारी हट गई थी, बगल से आँचल उसने हटा दिया था जिससे स्कध मूलपर्यंत अनावृत उसकी दाई बाँह और उसके नीचे से झाँकता हुआ सेव सा यौवन, जो घुटने से आधा दबा हुआ था, एक विचित्र ही शोभा दिखा रहे थे। कनरछरी सी वह कामिनी स समय, इस तरह, अनायास ही देवेन्द्र का मन हर लेने मे सफल हुई।

क्षण भर देवेन्द्र चित्रलिखित-सा इस दृश्य को देखता रहा—कर्त्तव्य की शृखला मे, नारी की सहज स्वाभाविक वृत्ति मे व्यस्त

उर्म्मिला इस समय उसे अपने से बहुत ऊँची जान पड़ी। यही तो ! गृहिणी का यही तो आदर्श है ! इसीलिए वह माता है, इसीलिए वह घर में रहती है, उसका काम त्याग है ! इसीलिए वह अन्नपूर्णा है ! पर देवेन्द्र तो उसे इस समय ठीक उलटी राह दिखाने आया था। जिस जीवन का मुक्त द्वार वह उसके लिए खोलना चाहता था, क्या उसमें यह प्रतिष्ठा, यह गौरव, यह तृप्ति और यह आनन्द है ? देवेन्द्र एक बार झिझका, जी में आया, हाथ का कागज फाड़ कर फेंक दे पर तुरन्त ही सम्हल गया। नारी को इन कार्यों में लगी देखना हमारा स्वभाव होगया है। हमारे स्वार्थ की यह चरम सीमा है, सरकारों का नग्न नृत्य है। इस माया से, इस कुहेलिका से, इस भ्रम से उसे छुटकारा दिलाना ही होगा। यह सही है कि यदि वह पुरुषाश्रित है, परमुखापेक्षी है तो उसका कर्त्तव्य है उसका प्रतिदान चुकाना, पुरुष यदि कमाकर बाहर से लाता है तो घर में रहकर उसकी व्यवस्था करना। पति के व्यथाक्लान्त, शिथिल तन मन को अपनी स्नेहसिंचित सेवा, भक्ति और यत्नपूर्ण निर्माल्य से सुखी करना। पर प्रश्न यहाँ यह नहीं है। प्रश्न है कि वह पुरुषमुखापेक्षी इन बातों में रहे ही क्यों ? क्यों नहीं अपने बलपर आप खड़ी हो ? क्यों नहीं स्वमुखापेक्षी बने ? और तब जो उसका स्नेह लिप्त व्यवहार होगा, जो सेवा और भक्ति का अर्घ्यदान होगा। उसमें अधिक गर्मी, अधिक मन प्रेरणा और अधिक स्वेच्छा होगी।

देवेन्द्र ने कहा—उठो भी वहाँ से, तब तो बताऊँ! यह चूल्हे के पास जानने की बात नहीं है।

आती हूँ—कहकर उर्म्मिला ने दाल एक बार और देख ली और उठकर देवेन्द्र के पास आई। बोली—क्या है? कहो।

देवेन्द्र—तुम बता सकती हो, इस कागज़ में क्या है?

उर्म्मिला—नहीं, लाओ देखूँ!

देवेन्द्र—नहीं यों बताओ।

उर्म्मिला को याद आया, ऐसे ही एक दिन अनूप का वह पत्र आया था जिसमें उसके आने की बात लिखी थी। उसने जिसे देवेन्द्र की जेब से निकाल कर पढ़ा था—एक बार, दो बार, कई बार। और जिसके ही सूत्र को लेकर यह दुर्घटना घटी थी कि देवेन्द्र को उसे बच्चों को पढ़ाने की बात सोचनी पड़ी। कहीं इस कागज़ में भी कोई वैसी ही बात न हो, अनूप ने फिर कोई मूर्खता न कर डाली हो! क्या वह उसके शान्त जीवन में शनिग्रह की भाँति, विपत्ति ला कर ही रहेगा? उसे संयम के साथ नहीं ही रहने देगा! उसका जी करने लगा, वहाँ से भाग जाय पर तभी देवेन्द्र फिर कह उठा—बोलो ऊर्म्मि!

मैं क्या जानूँ! कागज़ तुम्हारे हाथ में है और पूछते हो मुझसे! मैं कोई जादू जानती हूँ?—उर्म्मिला ने उत्तर दिया। मन ही मन वह काँप रही थी।

देवेन्द्र—तुम्हारी मुक्ति का परवाना है ऊर्म्मि! तुम्हारे लिए भविष्य की खुली राह इसमें है। इसमें वह वस्तु है जो तुम्हें

आत्म-बल देगी। मैंने तुम्हारे लिए कई स्थानीय पाठशालाओ मे—बालिका विद्यालयो मे—बातचीत की थी। तुम्हारी योग्यता इतनी नही कि ऊँचे क्लासो को पढ़ा सको, तभी एक स्कूल ने तुम्हें निम्न श्रेणियो को हिन्दी पढ़ाने के पद पर नियुक्त कर लिया है। प्रधानाध्यापिका जो हैं वे मेरे एक मित्र की परिचिता हैं। कृपाकर उन्होने यह नियुक्ति कर दी है। असुविधा आरम्भ में तुम्हें जरूर होगी पर धीरे धीरे काम समझ लोगी। आज तेरह तारीख है, अगली पहली से तुम्हे यह काम करना है। समझी! तीस रूपए वेतन भी शुरू में मिल जायँगे।

उर्म्मिला जैसे वहाँ नहीं थी, मति गति उसकी सब हर गई थी। पिंजरे का पछी सहसा ही पिंजरे का द्वार खुला देखकर जिस तरह किंकर्त्तव्यविमूढ हो उठता है, वैसी ही उस समय वह हो गई। पछी देखता है, द्वार खुला है। चाहे तो एक बार पख झाड, वह खुले गगन में उड जा सकता है, कोई रोक नही, पर बधन का मोह, इतने दिनों जिस माया-भवन में वह रहा उसका घातक स्नेह उसके मन में जाग जाग उठता है। इस असमजस मे बहुधा वह उड़ नही पाता और फिर कोई आकर कावुक बन्द कर देता है। उर्म्मिला की भी यही स्थिति थी। एक ओर उसके सामने स्वतत्र भविष्य था, दूसरी ओर स्वर्ण-तीलियो से निर्मित पिंजरा, जिसमें वह इतने दिनो रही थी, जिसकी खट्टी मीठी स्मृतियो के वातावरण में उसका अब तक का जीवन व्यतीत हुआ था। इतना बडा सत्य छोडकर वह

एक अकल्पित, अनजान मिथ्या को अपनाए तो कैसे ? जिन अणु परमाणुओं से उसका निर्माण हुआ है उन्होंने उसे जो कुछ बनाया है वही तो वह बनी है !

देवेन्द्र उसकी मनस्थिति समझ गया, बोला—ऊर्म्मि, तुम असमंजस में पड़ गई हो। नई बात यह तुम्हारे लिए है न ! सोचती होगी, कैसा होगा वह नया जीवन, कैसा होगा उसका आचार व्यवहार, कैसा होगा वह नया ससार जिसमे तुम्हारे ऊपर कोई बंधन न होगा। तुम जो चाहो, कर पाओगी। कोई हाथ पकडने वाला न होगा, न पदे पदे सीता सावित्री की लाज ही तुम्हें ढोनी होगी। तो, यह तो कुछ भी नहीं है। व्यक्ति परिस्थितियों मे अभ्यस्त हो जाता है। जहाँ, जब। जैसे रहता है वैसा ही बन जाता है। इस जीवन की ही तुम कब अभ्यस्त थीं ! माँ बाप के यहाँ तो खुली फिरती थी न ! वह तो उनकी निरन्तर की सीखों ने, पोथी पुराणो ने और विवशता ने तुम्हें इस बन्द जीवन का अभ्यासी बना दिया ! नारी तो जल का प्रवाह है। मुक्त बहते नदी नालों मे, झरनो मे उसका सौन्दर्य देखो, उसकी वास्तविकता देखो। तालाब और गढो मे रह कर तो वह दूषित हो जाता है रानी ! गन्दा हो जाता है। हृदय पर हाथ रखकर कह सकती हो कि तालाब का या कूएँ का बँधा हुआ जल नदी के मुक्त प्रवाहशील जल से अधिक धन्य है ? रह गई सन्तान की बात ! तो, यह तो नर नारी के सम्मिलन का अनिवार्य परिणाम है। उसके लिए अपने को

बंधन मे बाँध लेना भ्रम ही है। हाँ, तुम यह काम करने को तयार हो न ?

यह तुम्हारा अन्तिम निर्णय है ?—उर्म्मिला ने दबे स्वर से पूछा, जैसे अब भी उसे सशय है कि देवेन्द्र सत्य कह रहा है या यह भी उसके उपहास का ही कोई साधन है।

देवेन्द्र—मेरे निर्णय का प्रश्न नही है ऊर्म्मि ! नर नारी के विषय में कुछ निर्णय नही कर सकता। उसे स्वय निर्णय करना चाहिए। मैं केवल राह दिखा सकता हूँ और वह भी इसलिए कि तुम स्वय निर्णय कर पाने की मनस्थिति मे नहीं हो। परिस्थितियो ने अब तक तुम्हे कुछ दूसरा ही बनाया है और वह भी मेरे ही कारण, अत· मैं राह दिखा देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। ऐसी भी स्त्रियों को जानता हूँ जो राह दिखाने पर भी उस पर चलना नही चाहती। आराम से बिना हाथ पाँव डुलाए जो दोनों समय भरपेट भोजन, वस्त्र और माथे पर साया पा जाती हैं और इसका मोह छोडना उनके लिए कठिन होता है। पति के हाथों खाती हैं मार, ताडना सहती हैं और समझ लेती हैं, यह भी उनके नियमित जीवन का कोई अग है। बहुतो का यह बहाना होता है, वे कुछ कर नही सकेंगी। यह अपनी कमजोरी छिपाने का एक सीधा सादा उपाय है। निरर्थक और निष्फल व्यक्ति कोई नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ कर सकता है।

थोड़ी देर रुककर देवेन्द्र ने फिर कहा—तुम्हे आश्चर्य होता होगा, मुझमें सहसा ही यह परिवर्त्तन कैसे होगया। उस रात अनूप को लेकर मैंने तुम्हें जो बुरा भला कहा उससे दूसरी ही ध्वनि निकलती थी। वह मेरी कमजोरी थी, मेरा पतित्व का दम्भ ही उस समय बोल उठा था, यह मैंने बाद मे सोचा। मैं—जो अपने को देश को ऊँचा उठाने वाला और उन्नत करने वाला समझता हूँ, जो जीवन मे सर्वतोमुखी क्रान्ति का समर्थक है—वह कैसे उस दिन पागल हो उठा, यही आश्चर्य है। दूसरों को प्रगति का सन्देश सुनाने वाला स्वय ही अगति का इतना बड़ा उपासक कैसे हो उठा, यह नर का चिरन्तन इतिहास ही बता सकता है। और मैंने सोचा, मुझे स्वय ही अग्रसर होना होगा। मैं मानता हूँ, सबको सब कुछ करने का अधिकार है, यदि दूसरो की तत्सम स्वाधीनता मे उससे विघ्न नहीं पडता। मैं अपना नाता तुमसे वैसा ही बनाए रखना चाहूँगा, यदि तुम स्वीकार करो। वह भी इसलिए कि, जीवन की कुछ घड़ियों मे मैंने तुम्हारे सम्पर्क मे सुख-स्वप्न देखे थे, तुम्हारे तन का सम्पूर्ण उपयोग किया था, मन पर भी काबू पाना चाहता था, पर वह नहीं हो सका। तन ही पा सका, मन नहीं। मेरा लाल हमारे तुम्हारे तन के सम्मिलन का प्रतिफल है, मन का नहीं। तो यही सही। शरीर मेरा अब भी तुम्हारे लिए है, चाहता हूं कि तुम भी मुझे आवश्यकता होनें पर वैसी ही सुविधा दे सको। यों, तुम्हारी इच्छा है। आर्थिक स्वाधीनता

में दबाव से कोई काम नहीं कराया जा सकता। एक मधुर स्मृति बनाए रखने के ही लिए यह चाहता हूँ।

खाते खाते देवेन्द्र ने कहा—और सुनो ऊर्म्मि, आज अनूप दिखलाई पडा था।

उर्म्मिला चुप ही रह गई। उसने समझा, पुरानी बातो का पारायण अब फिर होगा।

देवेन्द्र—तुमने पूछा नहीं, कहाँ दिखलाई पड़ा था! पूछो ऊर्म्मि!

उर्म्मिला झुझला गई। यह उसको खिला खिला कर मारने का आयोजन देवेन्द्र क्यो कर रहा है! एक बार ही विष क्यों नहीं दे देता! पथ चलते एक बार वह कहीं रुक कर, क्षण भर विश्राम करने लगी, तो वही क्या उसके लिए आजीवन कलक बन जायगा? चिढ़ कर बोली—देखो, यह नाम मेरे सामने बार बार न लिया करो। एक बार जहर दे दो, सब समाप्त हो जाय। क्या उस गलती को तुम कभी क्षमा न कर सकोगे?

कभी नहीं। ग़लती गलती ही है। तुम्हें इसकी सजा मिलेगी।—देवेन्द्र ने दृढ़ स्वर में कहा!

उर्म्मिला डर उठी। अभी सजा बाकी है! वह क्या होगी? साहस कर उसने कहा—तो दो न सजा! मैं उसे भुगतने को तयार हूँ। बार बार कह कर क्यो टीसते हो? जब तुम्हारे हाथ में हूँ, तो जो कुछ कर गुजरी हूँ उसकी सजा भुगतनी ही होगी। प्राण ले लो, और क्या चाहते हो?

थोड़ी देर रुककर देवेन्द्र ने फिर कहा--तुम्हे आश्चर्य होता होगा, मुझमे सहसा ही यह परिवर्त्तन कैसे होगया। उस गत अनूप को लेकर मैंने तुम्हे जो बुरा भला कहा उसमे दूसरी ही ध्वनि निकलती थी। वह मेरी कमज़ोरी थी, मेरा पतित्व का दम्भ ही उस समय बोल उठा था, यह मैंने बाद मे सोचा। मैं—जो अपने को देश को ऊँचा उठाने वाला और उन्नत करने वाला समझता हूँ, जो जीवन में सर्वतोमुखी क्रान्ति का समर्थक है—वह कैसे उस दिन पागल हो उठा, यही आश्चर्य है। दूसरो को प्रगति का सन्देश सुनाने वाला स्वयं ही अगति का इतना बड़ा उपासक कैसे हो उठा, यह नर का चिरन्तन इतिहास ही बता सकता है। और मैंने सोचा, मुझे स्वय ही अग्रसर होना होगा। मैं मानता हूँ, सबको सब कुछ करने का अधिकार है, यदि दूसरो की तत्सम स्वाधीनता मे उससे विघ्न नहीं पडता। मैं अपना नाता तुमसे वैसा ही बनाए रखना चाहूँगा, यदि तुम स्वीकार करो। वह भी इसलिए कि, जीवन की कुछ घडियों में मैंने तुम्हारे सम्पर्क मे सुख-स्वप्न देखे थे, तुम्हारे तन का सम्पूर्ण उपयोग किया था, मन पर भी काबू पाना चाहता था, पर वह नहीं हो सका। तन ही पा सका, मन नही। मेरा लाल हमारे तुम्हारे तन के सम्मिलन का प्रतिफल है, मन का नहीं। तो यही सही। शरीर मेरा अब भी तुम्हारे लिए है, चाहता हूं कि तुम भी मुझे आवश्यकता होनें पर वैसी ही सुविधा दे सको। यो, तुम्हारी इच्छा है। आर्थिक स्वाधीनता

मे दबाव से कोई काम नही कराया जा सकता। एक मधुर स्मृति बनाए रखने के ही लिए यह चाहता हूँ।

खाते खाते देवेन्द्र ने कहा—और सुनो ऊर्म्मि, आज अनूप दिखलाई पड़ा था।

उर्म्मिला चुप ही रह गई। उसने समझा, पुरानी बातो का पारायण अब फिर होगा।

देवेन्द्र—तुमने पूछा नही, कहाँ दिखलाई पडा था! पूछो ऊर्म्मि!

उर्म्मिला झुझला गई। यह उसको खिला खिला कर मारने का आयोजन देवेन्द्र क्यों कर रहा है! एक बार ही विष क्यों नहीं दे देता! पथ चलते एक बार वह कहीं रुक कर, क्षण भर विश्राम करने लगी, तो वही क्या उसके लिए आजीवन कलंक बन जायगा? चिढ़ कर बोली—देखो, यह नाम मेरे सामने बार बार न लिया करो। एक बार जहर दे दो, सब समाप्त हो जाय। क्या उस गलती को तुम कभी क्षमा न कर सकोगे?

कभी नहीं। ग़लती गलती ही है। तुम्हे इसकी सजा मिलेगी।—देवेन्द्र ने दृढ़ स्वर में कहा।

उर्म्मिला डर उठी। अभी सज़ा बाक़ी है! वह क्या होगी! साहस कर उसने कहा—तो दो न सजा! मैं उसे भुगतने को तयार हूँ। बार बार कह कर क्यो टीसते हो? जब तुम्हारे हाथ मे हूँ, तो जो कुछ कर गुज़री हूँ उसकी सज़ा भुगतनी ही होगी। प्राण ले लो, और क्या चाहते हो?

प्राण ले लेने से दण्ड का उद्देश्य पूरा नही होगा। दण्ड के लिए तुम्हारे जीवित रहने की आवश्यकता है। जानती हो, तुम्हारा वह दण्ड क्या होगा? अनूप को कही न कही से मैं ढूँढ लाऊँगा। उससे पहले की ही तरह तुम्हे मिलना जुलना होगा। आज तो वह तेजी से चला जा रहा था, मेरे पुकारने पर भी नहीं सुना। कल से फिर चेष्टा करूँगा, कही तो दीख पडेगा। यही तुम्हारा दण्ड है कि लज्जा संकोच त्याग, उससे पूर्ववत मिलो जुलो। यह मेरी आज्ञा है, हाँ, ऊर्म्मि, आज्ञा है, क्योंकि अभी तुम स्वय नही कमा रही हो।—देवेन्द्र ने कह कर हँस दिया।

उस दिन बात वहीं समाप्त हो गई। मुख से निकलते हुए वाक्यो का थम जाना ही यदि किसी बात के समाप्त हो जाने की सूचना हो तब तो ठीक, पर ऐसा होता नही। बात मन मे उमड़ती घुमड़ती रहती है। उस दिन से न तो देवेन्द्र ने उर्म्मिला से नौकरी की ही कोई बात की और न अनूप की ही बात चलाई। जैसे कहीं से बहुत हारथक कर घर आता और बहुत रात गए तक बच्चे को बीच मे रख उर्म्मिला से हँसता बोलता रहता। और फिर सो रहता। यह क्रम देखकर उर्म्मिला को आश्चर्य हुआ। न कहीं कोई किसान सभा, न मजदूरो की मीटिंग, न और कोई बात! आखिर इन्हे हो क्या गया? जो चीज़ जीवन मे प्रधान थी वह गौण हो गई, जो वस्तु गौण थी वह अहर्निश मन-देश में बसी ही रहती है। कभी कभी यदि

उर्म्मिला पूछ बैठती तो कह देता—ऊर्म्मि, तुम्हारी ओर से निश्चिन्त होकर फिर जेल चला जाऊंगा। पर जब तक तुम्हारा काम नहीं कर लेता तब तक वहाँ भी मुझे सुख न मिलेगा।

उर्म्मिला हँसकर पूछती—जेल लोग सुख के लिए जाते है?

हाँ, ऊर्म्मि। हमारे जैसे लोग जब जेल जाते हैं तब उन्हें वहाँ सुख ही मिलता है। आराम से रोटियाँ तोड़ने को मिलें तो किसे सुख न होगा?—देवेन्द्र कह देता।

उर्म्मिला—तो इसके मतलब तो यह हुआ कि जो आराम से रोटियाँ तोड़े वह जेल मे ही है। यही न?

हाँ। और क्या? जैसे तुम लोग। उसे कह लो घर, भवन, महल, पर है वह जेल ही।—देवेन्द्र का उत्तर होता।

अनूप को खोजने की चेष्टा देवेन्द्र की जारी रही। यह तय था कि या तो वह कोई मकान लेकर रहता होगा या किसी होटल में। नगर में इतने मुहल्ले, हर मुहल्ले में इतने मकान, वह कहाँ तक पता लगाएगा? तभी उसने होटलों से शुरू किया। जब एक होटल में उसे पता लगा, नव नम्बर के एक कमरे में कोई जीवन कृष्ण रहता है जो लेखक, पत्रकार, रिपोर्टर, सभी कुछ है तब उसे लगा, शायद इन महाशय से अनूप का कुछ पता चले। अनूप भी तो यह सब कुछ है, और स्वजाति की भेड़ें सब साथ ही चलती होंगी, यह उसने समझा। तुरन्त वह नव नम्बर के कमरे के सामने पहुँचा, देखा, दरवाज़ा भीतर से बन्द है। उसने दो तीन बार धीरे धीरे खटखटाया।

भीतर से किसी ने पूछा–कौन ?

देवेन्द्र–एक आदमी। दरवाजा खोलिए।

खुला है। चले आइए।—भीतर से फिर आवाज़ आई।

देवेन्द्र द्वार ठेलकर भीतर पहुँचा। बिजली का पखा चल रहा था। कमरे में सिगरेटों का जैसे यज्ञ हुआ हो, धुएँ के बादल हवा से टकरा कर इधर उधर उड रहे थे। चारपाई पर कोई युवक, पाजामा और कमीज़ पहने, पाँव पर पाँव चढाए, द्वार की ओर देखता पडा हुआ था। हाथ में अधजली सिगरेट थी, पास की तिपाई पर चाय का एक कप, खाली, पडा हुआ था जो फिलहाल ऐश ट्रे का काम दे रहा था। बिछावन जैसे अख-बारों का ही हो। शृंगारदान पर स्नो, शेविंग का सामान, एक रूमाल, कई पुस्तकें, तेल, कघी, दो तीन नीबू, पानों की तश्तरी और जाने क्या क्या बिखरे पड़े थे। देवेन्द्र एक नज़र में यह सब देख गया। उजेले से यकायक अँधेरे में पहुँचने पर उसकी दृष्टि कुछ धुँधली हो रही थी। अनूप उसे पहचान गया, बोला कुछ नहीं। सोचा, यह और कौन सी विपत्ति लेकर आया है ? उसके प्रति जो अपराध वह कर बैठा है—यदि उसे अपराध कहा जा सके—क्या उसका दण्ड अभी समाप्त नहीं हुआ ? अब फिर उसे यहाँ आने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? वह तो अब सब कुछ भूल गया है ! केवल कभी कभी सोच लेता है, उसके पीछे, उसके चले आने के बाद उर्म्मिला पर, उस सीधी सादी मानवी युवती पर क्या बीती होगी ! देवेन्द्र ने उसे क्या क्या कष्ट न

दिए होगे ! उर्म्मिला ने ही मन ही मन उसे कितना अभिशाप न दिया होगा ? इसी देवेन्द्र ने तो उस दिन कहा था—जी करता है, तुम्हारा गला घोट दूं ! तो क्या उस दिन की यह साध आज पूरी होगी ? अनूप ने मन ही मन युद्ध की तयारी कर ली। देवेन्द्र क्या पूछेगा, वह क्या उत्तर देगा, कैसे क्या होगा, होटल के इस जनाकीर्ण वातावरण मे जो तर्क-वितर्क का नाटक होगा वह क्या रूप धारण करेगा, सब वह क्षण भर में ही, उतनी सी देर में ही सोच गया जब तक देवेन्द्र की दृष्टि धुँधली रही और वह स्पष्ट नही कुछ देख सका। जब दृष्टि का पथ कुछ साफ हुआ, अनायास ही उसकी आखे अनूप पर जाकर टिक गईं। उसे आश्चर्य हुआ, जीवन कृष्ण के रूप मे वह अनूप को ही सामने देख रहा था ! यह स्वप्न है या सत्य !

देवेन्द्र स्तंभित सा कह उठा—अनूप ! तुम !

अनूप—हाँ, मैं।

देवेन्द्र—तो यह जीवन कृष्ण......

हाँ, मेरा वह कृत्रिम रूप है। पर तुम क्या कहना चाहते हो ? किसलिए आए हो ?—अनूप ने बात काट दी। वह मामला बढाना नही चाहता था।

देवेन्द्र को लगा, अनूप कुछ अनखाया-सा बोल रहा है। उसे कुछ भ्रम है। उत्तर दिया उसने—भाई, मैं यह कहने आया हूँ कि मुझे क्षमा कर दो। उस दिन मैं अन्धा होगया था। क्या तुम मुझे क्षमा न कर सकोगे ?

भाई! क्षमा! यह क्या हो रहा है। अनूप की कल्पना ने जैसे चोट खाई, उसका बना बनाया महल जैसे ध्वस्त हो गया हो! वह एकटक देवेन्द्र की ओर देखता रह गया। बोलना चाह कर भी कंठ से उसके स्वर न फूटा।

देवेन्द्र कहता गया—मैंने समझा अनूप कि स्त्री अपने पति से उतना ही प्रेम कर सकती है जितना अन्य व्यक्तियों से! प्रेम पति की बपौती नहीं जो उसे ही मिले, जो कुछ वह स्त्री को नहीं दे सकता वह अन्य स्थान पर भी वह ढूढ़ सकती है। पर उस दशा में पति से ही भरण पोषण का दावा अन्याय है, उसे स्वयं अपने पांवों पर आप खड़ी होना चाहिए। स्त्री को बन्धन में बांधकर रखने वाला नर मूर्ख है। उसे स्वयं अपने ऊपर विश्वास नहीं होता। यदि किसी पुरुष को यह विश्वास है कि वह अपनी स्त्री की समस्त मांगें पूरी कर रहा है—कर सकता है, कायिक और मानसिक दोनों—तो वह क्यों उसे बन्धन में रक्खेगा? यदि पति को आत्मविश्वास है तो वह समझेगा, उसकी पत्नी उसे छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं जा सकती। अपनी पत्नियों को बन्धन में रखने वाले लोग उसके लिए चाहे जितने बहाने, चाहे जितने कारण ढूंढ़ें, मूल में यही बात है कि उन्हें स्वयं पर विश्वास नहीं! मन ही मन अनुभव करते हैं कि उनमें कुछ कमी है जो दूसरे स्थान पर पत्नी पूरी करेगी जरूर। तो, उसे बन्धन में बांधने की अपेक्षा स्वयं अपनी कमजोरी ही वह क्यों न दूर करें। मैंने उर्म्मिला को नौकरी दिला

दी है अनूप, ताकि वह समझे, उसका भी एक स्वतंत्र अस्तित्व है। उसके पास भी हृदय है, वह भी मनुष्य है। और तुम्हारे पास इसीलिए आया हूँ आज कि अपनी बातो के लिए क्षमा माग लूँ। तुमसे वतला दू कि तुम और उर्म्मिला मेरी दृष्टि में अव भी वही हो, जो पहले थे। तुम वैसे ही मेरे यहाँ आया जाया करो, उर्म्मिला तुम्हारे स्वागत क लिए सदैव तत्पर रहेगी। और मैं भी, भाई, मैं भी, जो उर्म्मिला का दुनियावी पति है, तुम्हारे स्वागत को उत्सुक रहूँगा।

अनूप तो जैसे दूसरी दुनिया में था। वह कुछ सुन भी रहा था या नहीं, इसमें भी आश्चर्य था। जव तक देवेन्द्र कह रहा था, अनूप उठकर वैठ गया था। देवेन्द्र के धारा-प्रवाह में उसे लगा, यह मनुष्य नहीं कुछ और है। नर का चिरसत्य, ईर्ष्यालु, क्रोधी और व्यावहारिक रूप त्याग, यह जो सीधा सादा मानव उसके सामने वोल रहा है, उसके चरणों पर माथा झुका देने की उसकी इच्छा हो रही है। वह केवल इतना ही कह सका—होश में तो हो देवेन्द्र !

होश में हो हूँ। होश में न होता तो आज यहाँ आता ही नहीं। बेहोश तो उस दिन हो गया था जव अपने को भूल वैठा था। तुम ही क्या, जो भी मेरी वातें सुनेगा, पागल का प्रलाप ही समझेगा। समझे, इसकी मुझे चिन्ता नही।—देवेन्द्र ने उत्तर दिया।

जव कमरे में चाय आई उस समय तक इतने दिनो का मनोमालिन्य दोनों के वीच का धुल पुँछ कर साफ़ होगया था।

वही अनूप और वही देवेन्द्र आमने सामने बैठे हुए थे जो कुछ दिनों पहले थे। वैसे ही उर्म्मिला की बात चल रही थी जैसे पहले चलती थी।

नारी को लेकर ही दो मित्र अलग हुए थे, नारी को लेकर ही फिर एक हुए। जाते जाते देवेन्द्र वचन ले गया कि अनूप कल या परसो उसके यहाँ जायगा। खाना भी वहीं खाएगा। और सोना चाहे, सो भी सकता है। यह भी कह गया हँसकर—पर यह याद रखना, मुझे किसी मीटिंग में नही जाना है। घर पर ही रहूँगा। समझे?



## ग्यारह

ज्योति ने कमरे में पहुँचते ही कहा-कहिए, सोकर उठ गए ? अभी तो एक नींद और हो सकती है !

अनूप ने अँगड़ाई लेते हुए उत्तर दिया—हाँ, अभी उठा हूँ। तुम आज बड़ी जल्दी उठ गई !

ज्योति--अब रेखा—ने उसकी ओर देखकर हँस दिया।

अनूप—अब जीवन कृष्ण—ने मुसकिरा कर उस हँसी का उत्तर दिया।

बीच का व्यवधान यहाँ कम कर देना सही होगा। यह दोनों युवक युवती 'आप' से 'तुम' पर कैसे उतर आए, इसके एक सम्पूर्ण इतिहास है। और यह घटना भी होटल नम्बर कमरे की नहीं, नगर के एक संभ्रान्त ए से मकान के एक कमरे की है। मकान दु ण्ड में ज्योति और नीचे अनूप रहता है। तीन नीचे हैं—ऊपर के दोनो कमरों में नीचे दो कमरों मे अनूप और एक में भी तक दोनों समय होटल से आता

बन जाती है, क्योंकि अनूप को इसकी आदत है और अक्सर रातों को भी उसे इस चीज़ की ज़रूरत पड़ ही जाती है।

ज्योति ने एक वार अनूप से, मकान किराए लेने की वात चलाई थी। अनूप ने, मित्र भाव से सहमति दे दी थी। यह नहीं जानता था कि केवल उसकी सहमति भर की ही देर है, ज्योति मन मे सारा कार्यक्रम पहले ही निश्चित कर चुकी है। एक वार अनूप के मन की वात जान वह उस ओर तत्पर हो गई। जिस दिन यह वात हुई थी उसी दिन से ज्योति जब बाहर जाती, शोफर और नौकर की सहायता से मुहल्ले मुहल्ले मकानो का पता लगाया करती। और एक दिन एक सभ्रान्त मुहल्ले मे मकान मिल ही गया। बीस रुपये किराया था, इलेक्ट्रिक फिटेड, दुमञ्ज़िला और सब आराम। रूपयो की बात नहीं थी, ज्योति ने मकान पा, जैसे सिर से एक वहुत वड़ा बोझ उतार दिया। और एक दिन सुबह जब उसने अनूप से कहा—मकान तो मिल गया, अब कब चलेंगे आप ?—तो अनूप जैसे विचलित हो उठा। यह नई विपत्ति गले पड़ी! मकान मिल गया, ठीक है, ज्योति चाहे तो जाय, जा सकती है पर वह क्यो जायगा ? उससे क्यो कहा जा रहा है कि मकान मिल गया! वह क्या एक बिलकुल अपरिचित युवती के साथ किसी अलग घर मे रहेगा—रह सकेगा ? होटल की वात और है! चार दिन के लिए हम आते हैं, ठहरते हैं, अपना काम करते हैं, बीच मे कोई मिल गया, एक घर के दो किराएदारो की तरह हँस कर बोल लिया फिर

अपनी राह चल दिए। पर क्या उस नये घर मे वह, यह किराएदारों वाला व्यावहारिक सबन्ध बनाए रखने मे सफल होगा! नहीं, नही, वह नही जायगा। ज्योति को ही जाना हो जाय! आखिर उससे सबन्ध ही ऐसा क्या है जो उसके चले जाने पर अनूप को दुख होगा। यह सही है कि कभी कभी इस युवती ने अपने तन का आशिक उपयोग उसे कर लेने दिया था, तो यह तो कोई उदारता या कृतज्ञतावश नहीं था! उसे एक वस्तु की मॉग थीके, अनूप के पास वह मिली, वश मे होने के कारण अनूप ने उसे प्रदान भी कर दिया। यह तो एक पारस्परिक समझौते की बात थी! इसमे बधन बाँधने की बात कहाँ उठती है! और यह जो एक घर मे अलग चलकर रहने की बात उठाई जा रही है, वह बन्धन बन कर ही रहेगी। साथ रहने के अनिवार्य परिणाम जो हैं उनसे यदि वह बच कर न चल सकेगा तो शायद अनर्थ ही हो जाय!

तो, यही सब सोचकर अनूप ने कहा – हाँ, अच्छा है मकान मिल गया। कब जाइयेगा?

जाइयेगा? इसके मतलब? क्या आप नही चलेंगे?— ज्योति ने पूछा।

अनूप—मैं चलूँगा! मैं कैसे चल सकता हूँ! वहाँ, घर मे और कोई न होगा। मैं कैसे रह सकूँगा?

जैसे मैं रहूँगी। स्त्री होकर मुझे डर नही और आप कहते है—कैसे रह सकूँगा! इसका भय तो मुझे होना चाहिए। ना,

ना, आपको चलना ही होगा। मुझ अकेले के लिए मकान की क्या आवश्यकता थी? यह सब तो···ज्योति कुछ और कहती पर अनूप ने बात काट दी।

मैं नहीं चल सकूँगा। होटल मे काफी आराम है। आप स्त्री हैं, आपको यहाँ कष्ट होता होगा जरूर! आपका यहाँ रहना ठीक भी नही है—दिन भर मे न जाने कैसे कैसे लोग आते हैं। आप चली जायँ, नौकर साथ है ही। मकान ही आपके लिए सही होगा।—अनूप ने कहा।

ज्योति चिढ़ गई थी। वह स्त्री होकर जो कुछ कर सकती है, पुरुष होकर यह युवक वह कर पाने में समर्थ नहीं। थोडे से सन्तोष के लिए उसने रुपये व्यय किए, पेशगी किराया देकर मकान लिया, किराए के फर्नीचर आदि के लिए ऑर्डर कर दिए, यह सब किस विश्वास पर? यही तो कि जीवन कृष्ण उसकी बात टालेगा नहीं! वह साथ चलकर रहेगा, सामीप्य से दो दिन ज्योति मानसिक हलचल को दबा सकेगी! अब यह कहता है कि नहीं चल सकेगा! यह वह जानती तो क्यों इस निष्ठुर से स्नेह बढ़ाती! ऊपर से उसने अभी अपना स्नेह उस पर प्रकट नहीं किया, यह सही है पर समय असमय जो उसे अपने शरीर से खेलने दिया। अपनी अप्रकट भावनाओं का प्रत्युत्तर उधर से मिलने पर कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण किया, मन ही मन धूल के घरौंदे बनाती बिगाड़ती रही, वह सब क्या कुछ नहीं था? सरकार वह भी समझती है। जीवन मे उसका कितना गहरा स्थान,

हमारे अनजान में ही बन गया होता है, यह भी वह जानती है। एक युवक के साथ अकेली एक मकान में रहने का क्या क्या अर्थ लगाया जा सकता है यह सब वह समझ चुकी है फिर भी साहस कर कह रही है—चलो, मेरे साथ रहो। सहारा के लिए हाथ भी उसने बढ़ा दिए हैं, नारी है न वह, लता बिना किसी विटप के आधार के नहीं खड़ी हो सकती! पर युवक की स्पर्द्धा है कि उस सहारा के लिए फैले कर को झटकार, कह रहा है—वह नहीं चलेगा। चिढ़कर ज्योति ने तब कह दिया था—मैं स्त्री हूँ, यह मैं भूल नहीं रही। आपको याद दिलाने की ज़रूरत नहीं। स्त्री न होती तो......ख़ैर, तो आप नहीं ही चलेंगे?

सुनिए रेखादेवी ...अनूप, नक़ली जीवन कृष्ण कहने जा रहा था कुछ।

मुझे देवी दानवी सुनने की फ़ुरसत नहीं। आप अपना निर्णय बताएँ। न चलना हो तो जाऊँ, मकान मालिक को जवाब दे आऊँ।—ज्योति—नकली रेखा—ने उत्तर दिया था।

संक्षेप में यह कि अनूप ज्योति के साथ रहने आया। मुहल्ले में, मुहल्ले के अधिवासियों में इस आगन्तुक युग्म के प्रति कुतूहल जागा, कुतूहल आश्चर्य में परिणत हुआ, कानाफूसी में और कानाफूसी अब खुले आम चर्चा का विषय बन गई। वह ना बड़े नगर की बात थी, जहाँ लोगों को एक दूसरे आश्चर्य की पड़ोसी की बात भी रुककर सोचने का अवसर नहीं होता, जहाँ कर्म व्यस्तता अवकाश ही नहीं लेने देती, अन्यथा इस युगल

व्यक्तित्व पर क्या बीतता, नहीं कहा जा सकता। सामीप्य ने, चौबीस घन्टों के साथ ने दोनों के बीच की दूरी और भी कम कर दी है, लगभग नहीं के बराबर, केवल यथार्थ परिचय पर आवरण अभी तक पड़ा है। दोनो ने उसे खोलना अपने लिए, अपने ही हित मे मगल नहीं समझा। 'आप' इसी अवकाश 'तुम' हो गया है, रेखा अब रह गई है केवल रेखा और मिस्टर जीवन कृष्ण हो गए हैं मात्र जीवन !

अनूप ने मुसकिरा कर कहा—तुम आज इतनी जल्दी उठ कैसे गईं, मुझे यही आश्चर्य है !

मैं सोई ही कब जो जल्दी या देर मे उठती !—ज्योति ने उत्तर दिया।

सोईं नहीं ? क्या कर रही थी ?

तारे गिन रही थी।

तारे ? कितने गिन सकी ? जान पडता है, अरिथमेटिक तुम्हारी तेज रही है !—अनूप ने हँस कर कहा।

तेज़ रही हो या नहीं, अब तुम्हारे साथ रह कर रोज आसमान ताकते ताकते तेज हो ही जायगी।—ज्योति ने एक उसाँस लेकर उत्तर दिया।

यह तो व्यंग्य असगत सा हो पड़ा। हास्य का उत्तर उसाँस से—यह तो ठीक नहीं कहा जा सकता ! इस उसाँस का अर्थ जानना ही होगा। अनूप ने क्षणभर रुक कर कहा—मेरे साथ

रहकर रोज आसमान ताकने की जरूरत पडती है, यह क्यो ? मैं तो कुछ समझा नही।

ज्योति उत्तर नहीं देना चाहती थी। उसके स्त्रीत्व और नारीत्व को इन दिनो नित्य जो आघात लगा करता था, उसे इस अन्धे युवक से कह कर ही वह क्या करेगी ? इतनी सहज बात को भी वह नहीं जान लेना चाहता तो उससे आशा ही और क्या की जा सकती है ? स्त्री क्या सब खोलकर ही कुछ कहे तभी पुरुष समझना स्वीकार करेगा ! क्या अपने को समूची नर के समक्ष खोल कर रख देना उसे उचित है—शोभा देता है ? और, क्या रखना चाहे भी, रख सकती है ? वाणी के आधार बिना क्या उस नारी की माँग कोई जान नहीं सकेगा ? समूची खुलकर फिर नारी मे रह ही क्या जायगा ? परदे के पीछे से थोडा उझक झाँक अपने छवि से नर को अवगत कराकर फिर आवरण में-आवरण की ओट हो जाने मे ही तो नारी का वास्तविक सौन्दर्य है ! फिर नर क्यो यह चाहता है कि नारी अपनी माग स्वय उसके आगे रक्खे ? वह स्वयं सब कुछ जान, उसकी माँग, उसकी चाह, उसकी आवश्यकता और उसकी भूख उत्तर में आगे बढ़े, क्या यह उचित नहीं ! यह तो पुरुषत्व होगा—यहीं उसका नरोचित महत्व

ज्योति ने टीस से उत्तर दिया—जीवन, तक समझे हो और न समझोगे। मुश्किल चाहते भी नहीं। तुम्हे आसमान ताकने की

न कभी ! पड़ी होती तो समझते, तारे गिनना कितनी विवशता का काम है।

अनूप अब भी नहीं समझा या समझकर भी ना समझ बन रहा है, यह नहीं कहा जा सकता। अब भी उसने कठोर व्यंग्य की ही शरण ली, कहा—रेखा, ज्योतिष से मुझे कभी विशेष प्रेम नहीं रहा। जिन्हें प्रेम है, सुनता हूँ वे अपनी खुशी से ही तारे गिनते हैं, किसी विवशता से नहीं। और बहुत दिनो से बहुत से लोग तारे गिनते आ रहे हैं, अभी तक तो इस क्रिया से कोई विशेष लाभ सधा नहीं। अब तुमने भी शुरू किया है, देखो, शायद सही गिनती हो जाय। संसार का एक बहुत बड़ा काम हो जायगा।

ज्योति से अब यह व्यंग्य आगे झिल नही रहा है। बस चलता उसका तो जीवन का गला घोट देती। सब कुछ छोड़ कर जिस भावना के वशीभूत हो वह चली आई है उसके मूल पर ही यह कुठाराघात हो रहा है! कहा उसने--चुप रहो जीवन, हर वक्त मजाक ही अच्छा नहीं होता। कभी जीवन मे गम्भीर होने की भी जरूरत पडती है। काश, तुम स्त्री होते !

स्त्री तो जीवन होने मे रहा और अपनी बात उसे समझानी ही है। रात को ज्योति नीचे कमरे मे आई। लाइट अभी जल रही थी, अनूप पलँग पर पड़ा किसी उपन्यास के पृष्ठ पलट रहा था। पुस्तक के पन्नों पर तो शायद उसका मन नहीं ही था। कमरे में घुसते ही स्विचबोर्ड था, ज्योति के दाहिने हाथ

की एक उँगली बटन पर पडी और कमरा अन्धकार में हो रहा।

अनूप मूर्ख नही कि इसका स्पष्ट अर्थ अब भी न समझे। और समझकर ही जहाँ एक बार वह मन ही मन पुलक से भर गया वहाँ क्षणभर के लिए काँप भी गया। नारियाँ उसके जीवन में कई आई पर साहसिकता मे रेखा को कोई नहीं पा सकी। नारी के शरीर का उपयोग, अवसर पडने पर, साधारण भाव से कर लेनेवालो के मन मे भी पहले जो क्षणिक उचित अनुचित का ज्ञान हो आता है, वहीं अनूप के मन में हुआ। उसने सोचा, यह जो एक अनायास अवसर मिल रहा है, उपयोग करना चाहे वह तो कोई बंधन भी नही है। निमत्रण भी उसकी ओर से नहीं, दूसरे पक्ष की ओर से है, उसे केवल स्वीकार भर करना है। स्वीकार तो वह, खैर, कर ही लेगा, प्रश्न यहाँ बिलकुल दूसरा है। निमत्रण स्वीकार करने पर एक बार तृप्त हो जाय, तो उस निमत्रण में कोई आपत्ति नहीं, पर यहाँ तो निमत्रयिता जो है वह बरबस प्रतिदिन आमत्रण लेकर उपस्थित रहेगा। उसके आमत्रणों का अन्त आने को नही और तभी निमन्त्रित जो है, यानी अनूप, उसकी स्थिति कठिन हो उठेगी। तब वह क्या करेगा? भावुक है ही वह, यह उससे होगा नहीं कि फिर हाथ झटकार, दूर जा खड़ा हो! जाने कौन यह रेखा है, कहाँ से आई है, कौन माँ बाप हैं इसके, यों स्वतत्र बनी फिर रही है, क्या उससे इतना हेलमेल बढ़ा लेना उसके

लिए सही होगा ? अभी अभी उर्म्मिला का अभिशाप हट पाया है, अब यह नया कांड होने जा रहा है! क्या उसका जीवन कभी इन सब से मुक्त न होगा ?

तो, अनूप असमंजस में पड़ गया। ज्योति, पलंग पर बैठती हुई बोली—क्या सोचने लगे ? कुछ मेरे विषय में तो नहीं ?

नहीं रेखा !—अनूप ने धीरे से उत्तर दिया। बग़ल के कमरे में नौकर सो रहा था।

रेखा—ज्योति—ने फिर कहा—क्या पढ़ रहे थे ?

चरित्रहीन ! शरद् का।

मायके में भाई के पास से लेकर चरित्रहीन ज्योति ने देखा था। आयु वह पा गई थी, किरण के चरित्र पर उसे बड़ी झुंझलाहट हुई थी। तभी उसने पूछा—कहाँ तक पढ़ गए ?

ख़तम ही समझो। किरण दिवाकर को लेकर गई है, एक मकान में रह रही है, रोज झगड़ा होता है और फिर मेल। यही सब चल रहा है।—अनूप ने उत्तर दिया।

स्पष्ट ही ज्योति समय काट रही थी। क्यों, यह वही जाने ! कहा उसने—और अब जल्दी ही उपेन्द्र के सामने वह सफ़ाई देनेवाली होगी, दिवाकर को वह छोटा भाई मानती रही है ! छिः, कैसी गलत प्रवृत्ति है इन लेखकों की ! नारी को या तो देवी बना देंगे या दानवी, जैसे मनुष्य बनने का अधिकार उसे नहीं ही है। दिवाकर के साथ वह रहती है, स्पष्ट है कि एक पलँग पर सोते हैं दोनों, यहां तक कि दिवाकर के हाथ

किरण के सीने पर होते हैं, उसके साथ गृहस्थी चलाता है वह, और अन्त में बड़े भोलेपन से किरण के मुँह से उसे छोटा भाई कहलाकर, सतीत्व की ध्वजा फहराती रक्खी गई है। सो, वह फहराती रहे, सवाल केवल यह है कि वांछनीय यह कहां तक है? ऐसे ही युगो से नारी भीत और त्रस्त रही है, पगु बनकर अपना अस्तित्व तक भूल बैठी है, इस तरह का साहित्य भी लगातार उसके सामने रखते जाने से उसका अनिष्ट होगा या सुधार? जिन लोगो के हाथ में पथ प्रदर्शन का काम है वे ही जब ऐसी गडबड मचाया करेंगे तो कैसे चल सकेगा? यह तो नहीं कि उनमें चेतना भरें—व्यक्तित्व का प्रकाशन वे मुक्त होकर कर सकें, जो चाहती हैं वह पा सके! अपने को, अपनी माग को पहचान सकें!

किरण की चर्चा मे अनूप को कोई रस नहीं! वह भी जानता है, चरित्रहीन में शरद् की सबसे बडी कमज़ोरी किरण है। वह तो साक्षात इस समय किरण को देख रहा है—रेखा के रूप में, जो पलायन से सबल नहीं बनी प्रत्युत सत्य को मुक्त कंठ से सत्य कहकर जो शक्तिमती है। और इस समय उसका सोया नर अँगडाई लेकर जब प्रोत्साहन पा, उठ ही पड़ा है तो वह इस अपरिचिता नारी को आज सम्पूर्ण जान लेना चाहता है। देखेगा कि वह कैसी है, जानेगा कि वह कौन-सी मन.-प्रेरणा है जो उसे विश्व की कोटि कोटि नारियों से ऊपर उठाए हुए है। नारी के आत्म-बल की जो पूर्णता वर्तमान वातावरण

में सम्भव है, नर के आत्म बल का वह अदना-सा प्रमाण है। तभी अनूप को इच्छा हो आई है कि इस रेखा की सीमा वह जान ले। परिणाम क्या होगा, यद्यपि यह अबूझ नहीं, फिर भी स्वभाव उसे भूलने में ही योग दे रहा है। जो हो, यह नीरवता, शारदीया के आँचल के नीचे दो तन मन का स्वेच्छाजन्य मिलन, ऐसा नहीं कि उपेक्षा किया जा सके!

अब बात वश के बाहर होगई है। रेखा पलँग पर लेट गई है—जीवन कृष्ण के शरीर से उसका समूचा शरीर स्पर्श हो रहा है। मानव ही है वह, देवता नहीं। प्रलोभन रोक पाने की भी एक सीमा होती है और अब वह पार होगई है। अनूप ने तीव्रता से—आवेश से ज्योति का दाया कपोल चूमते हुए कहा—रेखा, हम कितने सुखी हैं!

ज्योति ने करवट लेकर बायाँ कपोल भी सामने कर दिया, बोली—सुख अभी अधूरा है। हाँ, अब पूरा हुआ। जीवन, तुम कितने अच्छे हो!

ज्योति के कंठ में इस समय तृप्त नारी बोल उठी! उसका रोम रोम इस समय सजग उत्फुल्लता बना हुआ था। लगता था कि इस क्षण ही उसके जीवन का उद्देश्य पूरा हुआ हो—इसी क्षण के लिए वह स्थिर रही हो, उसके स्त्रीत्व की चरम सार्थकता, नारीत्व का पूर्ण सम्मान और अलक्षित मातृत्व का वास्तविक मूल्य इस पल ही उसे मिला हो। स्पर्श-मधु में सिंचित पद्म-दलों से अलसाए दृग एक विचित्र शोभा से भर

उठे--विजय के साथ ही वहाँ नारी-सुलभ लज्जा भी जमी बैठी थी। अब तक की मुखरा और अग्रणी रेखा पल भर में ही शान्त और सस्कारी हो उठी, नेत्र नत हो गए, वक्ष का उद्वेलन घट गया और......और नारी का चिर-दिन-विनिन्दित रूप वहाँ उपस्थित था, जिसमे आवेग नहीं, उच्छृङ्खलता नही, फिर भी, जो सतत स्वागतोत्सुक, चिर-उत्सर्गमय और नित्य-शोभामय है।

अपना सब कुछ ज्योति ने उस दिन वार दिया। अनबुझी भूख का हाहारव, प्यास का ताण्डव उस दिन उसका जीवन मे पहली बार थमा। आकण्ठ तृप्त वह नारी कुछ ही देर मे सदेह स्वर्ग में थी। मृत पुण्यात्माओ के स्वर्ग मे नहीं प्रत्युत जीवन के सच्चे और मात्र सुख की प्राप्ति के स्वर्ग में। जीवन से लम्बे लम्बे कई वर्ष व्यतीत कर जो अलभ्य वस्तु वह नही पा सकी थी, वह इस युवक ने उसे दिया। आश्चर्य है, जिस क्षण वह दाता के आगे रिक्त चम्वत लिए समग्र मन से भीख ले रही थी, उसी समय एक और मूर्ति मन के किसी भाग से झाक रही थी। वह आकृति थी सदाशिव की जर्जर, शिथिल, दुर्बल काया, आयु से बोझिल, कृत्रिमता से सँवारी फिर भी असमर्थ! ज्योति ने मन ही मन एक बार तिरस्कार से उसे देखा, चाहा कि अपने चम्बू से कुछ अर्घ्यदान उस प्रतिमा पर भी करे पर दूसरे ही क्षण प्रतिमा की वीभत्सता ने विचार उसका बदल दिया, निर्माल्य समूचा नई प्रतिमा पर ही चढ़ा दिया गया। दुनिया की दृष्टि में यह उसका चरम पतन रहा हो, उसको

दृष्टि में आज ही उसके वास्तविक जीवन का आरम्भ हुआ। साथ ही, उसी दिन एक नए जीवन का निर्माण!

बीच में कुछ महीने बीत गए। कोई उल्लेखनीय घटना न हुई। ज्योति केवल सब कुछ भूल अनूप—कृत्रिम जीवन-कृष्ण की ओर अधिकाधिक खिँचती गई। अनूप निश्चिंत था, पुरुष इन विषयों में निश्चित रहता ही है, दिन भर के कर्म-कोलाहल से हार थक, परीशान हो घर लौटने पर यदि उसे नारी के वांछित तन-मन का सान्निध्य प्राप्त हो जाय, उसके लिए बस है। उत्तरदायित्व उठाने की बान स्वेच्छा से उसकी कभी नहीं रही, जिम्मेदारी वह तभी उठाने को प्रस्तुत होता है जब इसके लिए बाध्य कर दिया जाय। ज्योति निश्चित नहीं हो सकती। वह नारी है! जहाँ अब तक कमरे मे उसके रविवर्मा प्रभृत कलाकारो के चित्र थे, क्लियो पैट्रा का चित्र जो अनूप कहीं से ले आया था, वहाँ दो चार दिन में ही कायापलट हो गई। चित्र उतार डाले गए और उनके स्थान पर बाल कृष्ण और डोगरे का बाला-मृत वाले विज्ञापन पर छपा स्वस्थ, सुन्दर, मढ़ा हुआ चित्र लटका दीख पड़ने लगा। अनूप ने यह परिवर्त्तन लक्ष्य किया, कुछ समझा, कुछ नहीं समझा। पूछने पर रेखा ने उत्तर दिया—जी ही तो है! उन चित्रो से तबीयत भर गई।

एक दिन बाजार से ज्योति एक अल्बम खरीद लाई जिसमे बच्चों के ही चित्र थे। एक से एक सुन्दर, आकर्षक, चपल मुद्राओ मे। रात को अनूप को दिखाती हुई बोली—

यह देखो, कितने सुन्दर बच्चे हैं! जी करता है, एक एक को चूम लूँ।

अनूप ने हँस कर कहा—तो कोई रोकता थोड़े ही है! एक सिरे से चूमती चलो।

ज्योति—नहीं, मैं चाहती हूँ कि इनकी माताओं जैसा सौभाग्य मेरा भी हो!

अनूप—जब अवसर आएगा तब भगवान से प्रार्थना करना, ऐसा ही सौभाग्य हो।

तो क्या जीवन को अभी इस विषय मे कुछ भी नहीं मालूम! ज्योति ने नत नेत्रो से कहा—तो कोई ज्यादा देर थोड़े ही है!

अनूप को काटो तो खून नहीं! मायाभवन जैसे उसका ढह पड़ा। एकटक रेखा की ओर देखता रह गया। स्वप्न में वह यह सुन रहा है या जाग रहा है! यह भी नहीं कि अब वह अनजान बना रह सके—कठोर सत्य उसके सामने है। थोड़ी देर चुप रह कर, लगभग काँपते, बोला—लेकिन, लेकिन रेखा, तुम्हारा तो अभी व्याह भी नहीं हुआ! व्याह हो गया होता तब भी बचाव था, अनचाहे पति की आड में यह सब कर लेना नारियों के लिए अस्वाभाविक नहीं—होना ही है। इस दशा में तो तुम्हारे माता-पिता, तुम्हारा परिवार, तुम्हारा समाज .....नहीं, नहीं। यह नहीं होना चाहिए, कोई उपाय करना होगा।

उपाय ? क्या उपाय ?—ज्योति ने सहमते, पूछा। संकेत वह समझ गई थी।

अनूप—बीसवीं सदी की साइंस सब कुछ कर सकती है।

ज्योति तड़प उठी। इतने दिनों की साध उसकी जब मूर्त होने जा रही है तब यह कौन सा हौआ उसे दिखाया जा रहा है! किस ओर यह निर्देश है! एक वेगुनाह बच्चे के .खून का कलंक भी क्या वह अपने माथे लादेगी! अपने ही हाथों अपने मातृत्व का गला वह नहीं ही घोंट सकेगी! जीवन भी क्या करे! मैंने उसे अपना रहस्य बताया ही कहाँ! नाटक ही तो खेल रही हूँ और अन्त तक खेलते जाना पड़ेगा! सिन्दूर मस्तक पर न देख कोई भी मुझे कुमारी ही कहेगा! सुहागन होने का मेरे पास प्रमाण ही क्या है! और जब कुमारी बनी हूँ तब स्वभावत. ही प्रश्न सबका होगा—यह बच्चा कैसा! इसके आगे ज्योति कुछ न सोच सकी। प्रश्न के उत्तर में जो कुछ आगे आएगा उसकी कल्पना मे ही उसका कोमल अनुभूतिमय हृदय विदीर्ण होने लगा। उसने, बस इतना ही कहा—साइंस कुछ कर सके या नहीं, यह तय है कि मैं कुछ न कर सकूँगी। जो होना है, होगा।

माँ बन पाने की साध नारी जीवन मे कितनी उभरी रहती यह अनूप जानता है। कौमार्यावस्था मे ही यह साध पूर्णता पा जाती है, इस मनोवैज्ञानिक सत्य को भी वह समझता है पर साध और चीज है, साध्य और चीज! कौमार्यावस्था मे इस रीति से प्राप्त साध्य कभी सही नहीं—यही आज की प्रत्येक

कुमारी समझती है। हमारे सयुक्त परिवार का दूषित वातावरण उनके रक्तमें ही यह बात भर देता है। पर रेखा जैसे नारीजाति के समस्त व्यवस्थित अस्तित्व के प्रति जिहाद बोल रही है। भावावेश ही उसमे अधिक है, अनूप ने यही समझा। उसे समझाने के ढग पर बोला—रेखा, जरा होश से काम लो। जो होगया है वह तो बदला नही जा सकता पर जो होनेवाला है, आसानी से उससे छुटकारा पाया जा सकता है। जब साधन हैं तो क्यो न उनकी शरण ली जाय? तुम समझती नहीं हो, ऐसी सन्तानों के प्रति समाज का क्या दृष्टिकोण होता है? यह बात यदि जाहिर हो जाय, तुमसे व्याह करने को कोई माई का लाल युवक प्रस्तुत होगा? तुम्हारे माता पिता ही तब क्या करेंगे? तुम उनके लिए एक बोझ न हो उठोगी?

घूमने फिरने के अपने अवकाश के बीच ज्योति को सोचने का काफी अवसर मिला है। और वह इसी निश्चय पर पहुँची है कि माँ बनने के लिए मन भी किसी एक को देना कभी ज़रूरी नहीं। जिसे तन दिया जाय, मन भी उसकी सम्पत्ति हो जाय यह कोई आवश्यक नही। मन एक साथ कई कई को विभिन्न आवश्यकताओं की परिपूर्त्ति के लिए दिया जा सकता है। तन के लिए यह इच्छा पति की होनी स्वाभाविक है कि जब तक भरण पोषण वह देता है, उसी का रहे पर मन के लिए यह बंधन तब तक लागू नहीं होता जबतक कि इससे किसी घरेलू व्यवस्था में विघ्न नहीं पड़ता। तन एक साथ; एक समय कई

को देने से, हो सकता है कि घर मे कुछ व्याघात उपस्थित हो, हालाँकि यह भी कोई जरूरी नही। यह निर्भर करता है व्यक्ति की मानसिक विकासशीलता पर। और मन के साथ तन अनिवार्य रूप से ही संवद्ध है। सो, सतान के लिए विवाह के नियमवद्ध प्रकार की जरूरत कोई खास नहीं। स्त्री यदि बच्चे का पेट भर पाने मे समर्थ है, वह सतानोत्पत्ति कर सकती है। फिर चाहे वह कुमारी हो, विवाहिता हो, स्वकीया या परकीया हो। एक वार ज्योति की इच्छा हुई, आज सब रहस्य जीवन पर खोल दे पर कुछ सोचकर रुक गई। जो युवक स्वयं उसके प्रति इतना अन्यमनस्क है कि कभी जोर देकर उसका परिचय तक न पूछा, उससे वह कुछ कहना नही चाहती। उत्तर उसने नही दिया, चुप ही रह गई।

अनूप ने कहा--रेखा, सोच देखो। तुम्हारे भले के ही लिए कह रहा हूँ। हमारे समाज मे पुरुषो का कुछ नहीं होता, सब । र्ण है विचारी स्त्रियो पर। रात भर और सोच देखो, कल अपना निर्णय वताना। यदि चाहोगी तो प्रबध कोई न कोई जायगा। और एक वार इससे मुक्त होकर, अच्छा हो यदि, न घर लौट जाओ।

ज्योति चिढ़ उठी। उत्तर दिया—यही होगा। घर ही लौट जाऊँगी। तुम पुरुष नहीं हो।

वह चली गई और जीवन कृष्ण अवाक्, देखता रहा।



## बारह

सदाशिव की जर्जर काया शय्यासीन हो गई। अन्तर्द्वन्द्व का बोझ वह अधिक न उठा सके। ऊपर से तो ऐसा जरूर बने कि वह कठिन हैं, दृढ़ हैं, उन पर ज्योति के व्यवहार का कोई प्रभाव नही पडा पर भीतर ही भीतर वह चुक गए, खाली होगए। मन से लड पाना सबके लिए सभव नही, पत्थर भी अन्तर्द्वन्द्व की चक्की में पिस जा सकता है, वह तो खैर मनुष्य थे। दिन रात घर की अव्यवस्था, ज्योति का भविष्य, अनूप का गृहत्याग और सबसे बढ़कर, इस ऊहापोह की दशा मे प्रभा का व्याह कैसे सभव है, यही सब बातें वे सोचते रहते। अनूप यदि न लौटा तो परिवार किसके उत्तरदायित्व मे पलेगा? जब तक वे जीवित हैं, मान लो ज्योति घूमती फिरती रहेगी, उसे कोई कुछ नहीं कहेगा पर उनके न रहने पर क्या होगा? तब तो उसे घर लौटना ही होगा! अनूप भी शायद, तब, उनके न रहने पर, वापस आएगा। प्रभा की चिन्ता तो उसे होगी ही! माँ बेटे दोनो एक दूसरे के लिए अपरिचित हैं, एक दूसरे को देखा तक नहीं है, उस समय नए सिरे से परिचय होगा। क्या

जानें दोनों उस समय एक दूसरे को किस रूप में ग्रहण करेंगे, क्या समझेंगे एक दूसरे को, कैसे निभेगी आपस में ! हो सकता है, आज तक के अपरिचय का संस्कार उन्हें कभी माँ बेटे के रूप मे, समीप न आने दे ! शय्या पर पड़े पड़े सदाशिव जब जब इस समस्या पर विचार करते, कोई सुलझन निकालने की चेष्टा करते, उलझन और भी बढ़ जाती। और जब उलझन ने उन्हें पूरी तरह आवृत कर लिया, वे असमर्थ हो पलँग पर पड रहे।

प्रभा पास बैठी हुई थी। सावित्री भीतर कोई दवा लाने चली गई थी। सहसा ही उन्होने प्रभा का हाथ अपने अक्षम हाथों मे लेते हुए कहा—बेटी, अनूप का कुछ पता तुम्हें मालूम है ? वह कहाँ है ?

प्रभा को यही आशका थी। शय्या पर पड़े पड़े पिताजी को सबसे बड़ी चिन्ता किस बात की होगी, यह वह समझ सकती थी। एक मरणासन्न की हार्दिक साध यही होती है कि उसकी मृत्यु के समय घर के सब लोग उसकी आँखो के सामने रहे, सबकी आँखो मे जल देखकर वह मरे ! यह अवसर ही ऐसा होता है कि बेगाने तक अपने हो जाते हैं, फिर अपने ही बेगाने बने रहे तो क्या हुआ ? पुत्र को मृत्युशय्या के समीप देख पाने की साध सर्वथा स्वाभाविक है, वही सदाशिव के मन में थी। प्रभा नासमझ नहीं, समझ गई थी कि बाबूजी के मन में यह माँग ज़रूर उठ-उठ आती होगी। उनके मन का द्वन्द

भी वह समझती थी, यह भी जानती थी कि इसी द्वन्द ने आज उन्हें लाकर ऐसे स्थान पर खड़ा कर दिया है जहां से केवल विनाश के मंजिल की ओर बढ़ा जा सकता है, वापस लौट कर फिर जीवन को नए सिरे से नही आरम्भ किया जा सकता। अवश्यम्भावी परिणाम की रूपरेखा सोचकर वह काँप काँप उठती थी। होता उसे अनूप का पता तो अब तक उसे कब की सूचित कर चुकी होती। ज्योति की जो मनस्थिति है, सदाशिव के प्रति जो मनोभाव हैं, स्वय सदाशिव के जो भाव उसके प्रति, अब, हो गए हैं, उन्हें देखकर तो यही कहा जा सकता है कि उसका न रहना ही अच्छा। रहेगी तो सेवा वह ज़रूर करेगी, कोई भी हिन्दू स्त्री ऐसे अवसर पर संस्कार-वश सेवा करने को वाध्य होगी, पर जिस सेवा मे हार्दिक लगन, स्वेच्छा का निर्माल्य और मन की प्रेरणा न होगी उस सेवा से लाभ ही क्या? अभी तक प्रभा ने ज्योति को सदाशिव के वीमारी की सूचना नहीं दी है। कारण एक और है। इसके लिए पूछने पर भी सदाशिव ने मना कर दिया है। कभी कभी खुद ही प्रभा से उसका समाचार जान लिया करते हैं और रुपए भेजते रहने की ताक़ीद करते रहते हैं। आज उन्होंने यह प्रश्न किया।

प्रश्न तो ज़रूर उन्होंने किया पर प्रभा इस विषय में सर्वथा अनजान है। वह क्या उत्तर दे। जानती थी कि उसके उत्तर से बाबूजी का हृदय दुखेगा पर उत्तार उसे देना ही था। कहा—नही बाबूजी। जब से गए, उनका कोई पत्र ही नही आया।

सदाशिव—मैं न जानता था बेटी, वह इस बात को इतनी बड़ी बनाकर देखेगा ! आखिर है तो मेरे ही रक्त का अंश न ! जब मैंने इतने विरोधो के होते हुए भी मनमानी की तो उसका तो अभी गर्म खून है ! हठ होना ही चाहिए। इसका मुझे दुख नहीं है बेटी ! जो होगया उसपर रोना बेकार है, सोचता बस यही हूँ कि मेरे न रहने पर क्या होगा ? ज्योति और अनूप एक दूसरे को जानते तक नहीं हैं। न वह उसे बेटा कह कर जानती है न वह उसे मा समझता है। चाहता था, एक बार मेरे मरने के समय दोनो आ जाते, दोनो को एक दूसरे से पहचनवा देता। अनूप से कह जाता—बेटा, जो होगया उसे भूल जाओ। अब ज्योति और प्रभा तुम्हारे हाथ मे हैं। बेटी सावित्री को सुखी करो—तभी इस वृढे की आत्मा शान्ति पायेगी। ना बेटी, यह तुम्हारी बड़ी बुरी आदत है, मेरे मुँह से मरने की बात सुनकर रोने लगती हो। यह होना ही है, आज न सही, कल सही। हाँ, यह जरूर है कि भगवान ऐसी मौत दुश्मन को भी न दें। बेटा पास नहीं, स्त्री पास नहीं और आने की आशा भी नहीं। दोनो मे से एक भी नहीं।

आँचल से आंसू पोछते हुए प्रभा ने कहा—मैं तो हूँ बाबू-जी ! आप व्यर्थ ही चिन्ता कर रहे हैं। मैं तो कह रही हूँ कि माँ को बुला दूँ। भैया के लिए लाचारी है।

सावित्री दवा का ग्लास लिए कमरे में आ गई थी। सदा-शिव ने प्रभा को संकेत से रोकते हुए कहा—ना बेटी, इसे न

बुलाना। मैं नहीं चाहता कि मेरे लिए वह कष्ट उठाए। यहाँ आएगी तो उसका सरकार प्रबल हो उठेगा। ऐसा न भी हो तब भी दुनिया की लाज तो उसे ढोनी ही पड़ेगी। वह मेरी सेवा करेगी, मेरे लिए रात-रात जागेगी, पर यह सब उसे ज़बर्दस्ती करना पड़ेगा। उसकी स्वय की चेष्टा इसमें न होगी। और सेवा यदि मन की प्रेरक शक्ति से न हुई तो वह बेकार है। इससे अच्छा तो यदि अनूप को किसी तरह बुलवा दे सकती बेटी, तो मेरा बहुत सा काम बन जाता। बेटी सावित्री को भी थोड़ा सुख हो जाता। उसे ज्योति के विषय में भी समझा जाता, और यह सब देख कर, तब, सुख से मर सकता।

प्रभा—बाबूजी, आपको यह सब न कहना चहिए। आपको हुआ क्या है? ज़रा-सी बीमारी है, जल्दी ही अच्छे हो जायँगे। भैया के लिए आपके कहने की बात नहीं है। उनका कुछ भी पता होता तो अब तक ज़रूर बुलवा दिए होती। आप भाभी को देखें, मैं हूँ ही। भैया की जगह भाभी को देख कर सन्तोष कीजिए, भैया का जो काम होगा, मैं करूँगी।

सदाशिव—इसका विश्वास तो है बेटी। तू अपने भरसक कुछ नहीं उठा रखेगी। यदि अनूप न आया तो तू और सावित्री तो है ही। पर कुछ भी हो बेटी, तुम दोनों स्त्री हो! पुरुष का काम पूरा-पूरा तुम दोनो से हो न सकेगा। इतना कमाया, क्या सब इसीलिए था कि उसका भोग करनेवाला कोई न रह जाय!

सावित्री ने दूसरी ओर मुँह फेर आँसू पोंछा, दवा का ग्लास आगे बढ़ा कर कहा—बाबूजी, यह दवा पी लें।

सदाशिव बिछौने पर उठंग कर बैठ गए, बोले—लाओ बेटी, जितने दिन इन सब के बल पर चल सकूँ, चला लो। पका आम डाल पर ज्यादा देर तक नहीं टिक सकता। हवा का एक जरा सा तेज झोंका भी उसे गिरा देने को पर्याप्त है। लोग लड़के के लिए तरसते हैं। मैंने लड़का होते हुए भी उसे गैर बना दिया। न जाने किस कुघड़ी में मैंने ब्याह किया, न जाने मति कहाँ मारी गई थी।

सदाशिव—पिता—बीमार थे और प्रभा जीजान से उनकी सेवा कर रही थी। करनी ही थी उसे सेवा—अनायास ही जो भारी बोझ उसके अक्षम कन्धों पर आ पड़ा है, उसे ढोए बिना भी तो नहीं चलता। मन ही मन वह समझ रही है, बाबूजी अब अधिक दिनों के मिहमान नहीं, डाक्टर जो रोज आकर देख जाता है उसकी गिरी हुई दृष्टि प्रभा को और निराश कर देती है। सदाशिव की अनर्गल बातें उसे और भी भयभीत कर देती हैं पर उसके पास कोई साधन नहीं जो यह सब रोक दे! क्या उसने स्वयं इस विपत्ति को आमन्त्रित करने में सहायता नहीं दी है! अनूप का कहा हुआ उसे बार बार याद आता है, 'अन्याय में, सहयोग देनेवाले का भार अन्याय करनेवाले से ज्यादा होता है!' यह तो केवल अन्याय ही नहीं रह गया, जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है। ज्योति को—माँ को—उसने

स्वयं ही चली जाने दिया है। होती वह तो न करती मन से सेवा, कम से कम पिताजी को सन्तोष तो रहता! और भैया को वह क्या कहे! अरे, यह सब तो हर घर मे होता रहता है! इनके पीछे क्या कोई घर वार छोड़ देता है? भावुकता इस हद तक कभी क्षम्य नहीं! यह तो नहीं कि डट कर सत्य का सामना करें, कब तक मुँह छिपाए भागते रहेंगे? कभी न कभी तो आएँगे ही, फिर अभी आकर बिगडी वना लें तो क्या अच्छा न होगा!

एक वात पर मन ही मन उसे हँसी भी आ रही है। आज नहीं तो कल माँ का और अनूप का सामना होगा ही। माँ देखेगी, यही वह अनूप है जो उसके कारण घर छोड़, इतने दिनों दर-दर भटकता रहा। अनूप देखेगा, यही वह नारी है जो उसके ऐच्छिक निर्वासन का आधार है। तव दोनों को दोनो कैसे लगेंगे, दोनों के भाव एक दूसरे के प्रति क्या होंगे! भावुकता तब अनूप की समाप्त हो जायगी और ज्योति को माँ के रूप में ग्रहण करने को वह प्रस्तुत हो जायगा। ज्योति को तो, ख़ैर, कभी उसे कुछ कहने में आपत्ति होगी नहीं! जो नाता वना कर भेजी गई है, वह उसे स्वीकार कर ही लेगी। पर होगा वडा तमाशा—कहने को माँ बेटे हैं पर एक दूसरे को देखा तक नही! ऐसे ही न जाने आज और कितने माँ वेटे दुनिया में होंगे, जिन्हें वरवस एक दूसरे को माँ वेटा समझना पडता होगा!

सदाशिव फिर कहने लगे—वेटी, एक अरमान और रह गया। तुम्हारा व्याह कर डालना चाहता था, पर देखता हूँ, उसके

पहले ही चल देना होगा। खैर, मेरे न रहने पर अनूप इसकी चिन्ता तो जरूर करेगा। तुम्हारे भावी पति का चित्र तो तुम्हें दिखलवा ही दिया है, चाहो, यह ब्याह कर लेना। मेरे न रहने पर यदि अनूप आवे तो मेरी ओर से तुम्हीं ज्योति को उसके हाथों मे सौंप देना, कह देना, अब मे सारा भार उस पर ही है। वह जैसे चाहे, घर को चलाए।

ब्याह की कल्पना से प्रभा को जाने कैसा लगा। अभी तक सदाशिव ने कभी उससे यह बात न चलाई थी। आज सम्भवत अपने जाने का समय निकट जान उन्हें यह बात चलाने की जरूरत पड़ गई है। पर इस बात मे जोर नहीं है, आज्ञा का स्वर नहीं है, अधिकार की भावना भी नहीं है, है केवल एक अनुरोध, एक आग्रह, एक जाने वाले की हार्दिक अभिलाषा! तो वह कैसे उपेक्षा करेगी इस अंतिम आकांक्षा का! वह करेगी, करेगी ब्याह उस युवक से, जिससे उसका अभी तक चित्र भर का परिचय है। चित्र में वह कुछ बहुत अच्छा नहीं लगता, न सही, दुनिया में मात्र शरीर ही तो सब कुछ नहीं है! मन भी तो कोई चीज है! और शरीर की सुन्दरता समाप्त हो जाने पर मन का ही भरोसा किया जा सकता है! हाँ, वह ऐसा ही अभागा हुआ कि तन-मन दोनो से हीन मिला तो बात ही और है। वैसी दशा में जीवन जरूर भार हो उठेगा! पर किया क्या जाय? क्या पिता की इच्छा का कोई मूल्य नहीं है? कैसे कहा जाय कि उसका कोई विशेष मूल्य है! उनकी एक इच्छा का मूल्य तो

सारे परिवार को मिलकर चुकाना पड़ रहा है, समूचा भविष्यत् अन्धकारमय हो गया, अब यह दूसरी इच्छा क्या कुछ न करेगी, यह कौन कह सकता है! माना कि मूल मे स्नेह का हाथ है, मेरी मंगल-कामना निहित है, और इस दृष्टि से यह इच्छा उस इच्छा से ऊँची है, पर यह इच्छा यही सीमित भी तो नहीं होती। इस इच्छा की सीमा बहुत दूर तक है। एक नया परिवार बनेगा जिसमें दो अपरिचित व्यक्ति मिल कर साथ रहने का ढोंग करेंगे। हो सकता है कि पिंजड़े के वे दोनों पंछी बहुत दिनो तक साथ साथ रह लेने पर एक दूसरे को समझने लगें, पर जब तक ऐसा नहीं होता तब तक क्या होगा? यही हो सकता है कि तब तक के उनके मनोमालिन्य और विरोध की चोट से पिँजरे की तीलियाँ तक हिल उठें। यह भी हो सकता है कि एक दिन वह आजाय जब पिँजरा टूट-टूट जाना चाहे। और तब वही स्थिति हो उठेगी जो यहाँ हुई है। तो, उसने सोचा, इस वक्त इस बात का उत्तर नहीं ही दिया जाय। कहा उसने—वह तो होगा ही बाबूजी, आपके स्थान पर वे ही तो होंगे! जो कुछ करेंगे, वे ही करेंगे। आप निश्चिन्त रहें। पर आप आज ऐसी बातें कर ही क्यों रहे हैं?

सदाशिव—कहना पड़ रहा है बेटी। ब्याह, तुम जानती हो, हमारे यहाँ जरूरी समझा गया है। उसके बिना एक युवती की गति नही, उसके परिवार वालों तक की गति नहीं। अपना वह फर्ज तो मुझे पूरा करना ही है। चाहता था, सब कुछ मेरे सामने

हो पर अब उसकी आशा नहीं रह गई। यह बीमारी मेरी आसान नहीं—लगता है कि यही आखिरी है।

सावित्री अपने बाबूजी को बहुत चाहती है। उनके स्नेहपूर्ण व्यवहार, अकृत्रिम स्वभाव ने उसे अपनी चेरी बना लिया है। वह चाहती है कि किसी तरह बात की धारा दूसरी ओर कर दे। कमरे के वातावरण में जो एक उदासी, एक करुणा और विषाद घुल गया है उसे वह दूर करना चाहती है। बहुत देर से कोई उपाय सोच रही है, पर बीच मे बोल पाने का अवसर उसे नहीं मिल रहा। इस बार सदाशिव के चुप होने पर उसने सोचा कोई दूसरी बात करनी जरूरी है। सकेत से प्रभा को एक ओर बुलाकर बोली—बीबी, इन्हे चुप करो। नहीं यही सब अनाप-शनाप बकते जायँगे। मन किसी दूसरी ओर फेर दो।

प्रभा—क्या करू, कुछ समझ मे नही आता। जान पडता है, इस समय यही बातें इनके मन मे घूम रही है। नींद ही आ जाती तो अच्छा था। नींद आने की दवा दूं?

सावित्री—पूछो, यदि पीना चाहे।

प्रभा सदाशिव के पास पहुँची। आखे मूदे वह पडे थे।

बाबूजी!

हाँ बेटी! कहो!—सदाशिव ने आखें खोलते हुए कहा।

प्रभा—सोने वाली दवा पिला दूँ? आप को नींद नहीं आ रही है।

सदाशिव—न आवेगी बेटी ! दवा इस समय कोई काम नहीं करेगी ! इससे अच्छा तो यह है, कोई पत्र ही पढ़ कर सुनाओ। बहुत दिनो से कोई अखबार नहीं देखा। पर ख़बरें नहीं बेटी, कोई कहानी आदि हो तो सुनाओ। थोड़ा जी बहले।

सावित्री चाहती यही थी। तुरन्त भीतर कमरे से जाकर आज का नया पत्र उठा लाई। प्रभा ने लेकर उसे पढ़ कर सुनाना आरम्भ किया। कहानी और कविता, दोनो सुनकर सदाशिव के मन में घृणा ही उपजी, यही आज का साहित्य है ! इसे ही लेकर हम विदेशो के सामने गर्व से सिर ऊँचा किए खड़े होंगे ! कहानी के साथ जो चित्र दिया है, उस पर सदाशिव की आँख यों ही पड़ गई। देखने से लगता है, युवक है। और कहानी के जो विचार हैं वे युवकोचित तो कदापि नहीं हैं ! इतनी निराशा, इतनी हतोत्साहिता यदि युवक के मन में हो, समाज को और उससे बढ़कर देश को उससे क्या आशा हो सकती है ? यह सही है कि आज का युवक समाज की बात उतनी नही सोचता पर यह कारण भी उसके निराशा को प्रश्रय नहीं दे सकते ! यह तो हत्या है, हत्या ! व्यक्तिगत जीवन जैसा है वैसा ही साहित्य। जिस तरह जीवन में ये निरुत्साह, मुर्दे और बुज़दिल होते हैं, साहित्य भी इनका वैसा ही होता है। अरे, यह तो सभी जानते हैं कि जीवन मे जो चाहो वह मिलता नही, निराशा ही ज्यादा हाथ आती है, रोना अधिक होता है, विषाद जीवन के

अणु-अणु में लिपटा पड़ा है और करुणा पदे-पदे आगे आती है पर इसके यह अर्थ तो नहीं कि यही सब कुछ है। आशा भी तो है, हास्य भी तो है, सफलता भी तो है और उन्माद भी तो है! उसका चित्रण यह कम्बख्त क्यों नहीं करते? जीवन हँसी खेल नहीं है, यह तो सभी जानते हैं पर उसे हँस खेलकर काट देना ही अच्छा है, यह सत्य ये युवक क्यों नहीं समझ पाते? ये रोएँगे और सबको रुलाएँगे, यही इनके साहित्य का चरम सत्य है! कठोर यथार्थ के संघर्ष से मुँह चुराकर एक कल्पना लोक में बस्ती बनाकर रहने वाले ये युवक अपना सर्वनाश तो करते ही हैं, दूसरों को भी गलत राह बताते हैं और उनका भी, इस तरह, सर्वनाश करते हैं; ऐसे लेखकों का लिखना कानूनन बन्द कर देना चाहिए।

सुनते सुनते वे ऊब गए थे। कहानी क्या थी, एक अच्छा भला आँसू का सागर था—पात्र सब उसमें तैर रहे थे। यह नहीं कि सदाशिव उनकी वेदना समझते न हों पर समझ कर भी उन्हें उनकी विवशता पर क्रोध ही आ रहा था, करुणा नहीं। सब विवश थे, सब ही सामाजिक बनी-बनाई मर्यादाओं में बोझिल, कुत्सा भी इसके प्रति उनके मन में थी, पर इस स्थिति से मुक्त हो पाने का प्रयास किसी के पास नहीं, हाथ पाँव कटा कर पंगु सब जैसे हो गए हों। चेष्टा हो पर सफलता न मिले, यह बात समझ में आ सकती है। चेष्टा हो ही नहीं और चुपचाप हाथ पर हाथ धरे उनसे मुक्त हो पाने की बात हम सोचते जायँ,

तो यह तो कुछ भी न हुआ ! यह तो अपने को छलना हुआ ! कहानी पढ़नी सदाशिव ने वन्द करा दी, ध्यान उनका ज्योति की ओर चला गया। मर्यादा और सामाजिक शृंखला ने उसे भी तो घेर रक्खा है। पर उसके पास चेष्टा का बल है। यह सच है कि अभी यह चेष्टा दूसरों के बल पर ही है, मेरे ही रुपयों से वह थोडा मुक्त हो घूम फिर रही है, आज यदि मैं रोक दूँ तो उसे लौट ही आना होगा, चेष्टा में स्वय का ज़ोर नहीं है पर असल चीज़ है भावना ! यह भावना ही कितनी स्त्रियों मे है कि अनचाहा पति, ज़रूरत होने पर, ठुकराया जा सकता है। व्याह एक आपसी समझौता है और कोई भी समझौता इच्छा मात्र से तोड़ दिया जा सकता है, वशर्ते कि उस समझौते के दोनों पक्षों में स्वतत्र रूप से चलने की क्षमता हो। समझौता तोड़ कर स्वतंत्र अस्तित्व कायम करने वालों के लिए यह क्षमता पहली चीज़ है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता पर उसके भी पहले यह चेतना जरूरी है कि समझौता टूट सकता है। यह चेतना होने पर सवल व्यक्तित्व क्षमता अपने में ला सकता है।

वहुत देर से आखें वन्द किए पड़े रहने से प्रभा और सावित्री ने सोचा, सदाशिव सोगए। लक्षण ठीक समझ उन्होंने वहाँ से टल जाना चाहा पर दो नारियों की सम्मिलित पगध्वनि मे उन्होंने आँखें खोल दीं। कहा—जा रही हो वेटी। हाँ जाओ। वहुत देर हो गई। मेरी फिक्र न करो। मैं सो ही जाऊँगा। केवल

जो कुछ मैंने कहा है, याद रखना । ईश्वर तुम दोनो का कल्याण करे।

द्वार के पास से मुड़कर दोनो युवतियो ने देखा। सदाशिव की आखों मे, टेबुल लैम्प के हरे प्रकाश मे उन्हें लगा, धीरे धीरे बन्द होनेवाले धड़कते कलेजे की पूर्व सूचना जड़ होकर बैठ गई है। दोनों भयभीत हो उठीं। उस अन्तर्भेदिनी तीक्ष्ण दृष्टि ने उन्हे आपादमस्तक सिहरा दिया। दोनो पुन. एक दूसरे की ओर देखती हुई पलग के पास वापस लौट आई । सदाशिव ने फिर आँखें मूँद लीं। प्रभा और सावित्री, कुछ भी हो, युवतियाँ ही थी। स्थिति ऐसी थी कि जीवन मे इसका साबका उन्हे पहले पहल पड़ा था।

प्रभा ने कुछ सोच कर कहा—बाबूजी!

सदाशिव—कहो बेटी!

प्रभा—मैं आपसे कहना भूल गई। कल के अखबार मे आपकी बीमारी का समाचार काफी प्रामिनेंट बनाकर दिया गया है।

यह पढ़ाई लिखाई की बात थी। सावित्री बिचारी क्या समझती! प्रामिनेंट शब्द ही उसे व्यस्त कर देने को पर्याप्त था। वह चुप, प्रभा की ओर देखती रही।

सदाशिव—क्या छपा है बेटी?

प्रभा ने टेबुल पर से कल का पत्र उठा कर पढ़ा—

## श्री सदाशिव बीमार

प्रसिद्ध व्यवसायी और नागरिक श्री सदाशिव इधर कई दिनों से अस्वस्थ हैं। नगर के सभी प्रमुख चिकित्सको ने उनकी परीक्षा की है, दवा भी प्रसिद्ध होमियोपैथ डाक्टर भुवनमोहन की हो रही है। आशा है, शीघ्र ही वे स्वास्थ्य-लाभ करेंगे। दुःख है कि ऐसी बीमारी के समय भी उनके सुयोग्य पुत्र श्री अनूपकृष्ण और उनकी स्त्री यहाँ नही हैं। श्री अनूप को एक कार्यवश बाहर जाना पड़ा है और उनकी धर्मपत्नी मायके मे हैं। सूचना गई है।

सुनकर सदाशिव ने पूछा—इन अखबार वालो से यह किसने कहा कि अनूप बाहर गया है और ज्योति मायके मे है ?

प्रभा—अनूप भैया के विषय में तो उन्हें पता था कि वे यहाँ नहीं हैं पर माँ की बात मैंने उनसे कही थी। वे पूछने लगे तो मैं इसके सिवाय और क्या कहती कि वे मायके में हैं। आती ही होंगी।

सदाशिव ने एक ठण्ढी साँस ली, कहा—बेटी, मुझे दु:ख नही कि तू बेटी होकर पैदा हुई ! पुत्र से यही तो आशा की जाती है कि वह घर को ठीक ठिकाने चलाएगा और पिता के मुख पर कालिख नही पुतने देगा ? सो तू भी कर सकती है बेटी ! जीती रह और सुखी रह ! अब जाओ, सोओ।

## तेरह

उर्म्मिला के जीवन मे आज वह दिन आया है जिस पर प्रत्येक नारी उचित गर्व कर सकती है। आश्चर्य है, उर्म्मिला ऐसा नहीं कर पा रही है। अपने काम धन्धे के बीच बीच जब जब देवेन्द्र को अवकाश मिला है, उसने उर्म्मिला को समझाया है—ऊर्म्मि, अब वह युग नहीं रहा जब नारी के लिए उपार्जन लज्जा की वस्तु हो। अब वह उसके लिए गर्व की वस्तु है। बीसवीं सदी के प्रगतिशील वातावरण मे, जब भारत को विदेशो के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना है, यह जरूरी हो गया है कि नारी मुग्धा बनने की साध त्याग ही दे, पावो के स्वर्णिम नूपुरों का झनझन शब्द उसे यदि इतना ही प्रिय है तो भारत का कल्याण किस दिन सभव होगा, नहीं कहा जा सकता। सीधे सीधे व्याह दी जाकर, सुसराल मे चूल्हा- चक्की करना या पतिदेव के साथ मोटर पर बैठ कर सैर सपाटा ही उसके जीवन का ध्येय नहीं, उसे कुछ और होना है। प्राचीन काल मे व्याह होते थे, परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि आपस में आशाएँ इतनी विकसित और उग्र नहीं थीं, पति पत्नी थोड़े में, एक दूसरे

से सीधा-सादा स्नेह और सम्मान पाकर तृप्त हो रहते थे। आज वह युग नहीं रहा। समय ने मनों मे आशाएँ विभिन्न और तीव्र कर दी हैं, नारी सन्तान को अपने अस्तित्व का उप-हास समझने लगी है, स्नेह के साथ साथ पति से इन्सपिरेशन, अनुभूति चाहने लगी है। पति केवल पूजा और व्यवस्था ही नहीं, कुछ और चाहता है। कुछ और जिससे उसके मन की भूख मिटे, तन की भूख मिटाने के लिए ससार में स्त्रियो का अकाल नहीं। इसके लिए एक व्यक्ति का आजीवन का व्यय उठाने की आवश्यकता वह नहीं समझता। यह तब तक न होगा जब तक नारी स्वय को पहचानेगी नही, और स्वय को पूरी तरह अनुभव कर पान का एकमात्र उपाय इस युग में उपार्जन ही है। तुम स्वय देखोगी, अब तुम्हें कितना सन्तोष, कितना बल मिलता है।

उर्म्मिला यह बल प्राप्त करने के लिए अपने को तयार करना चाहती है पर इतने दिनो से संस्कारो के वातावरण में पली नारी यह साहस नहीं बटोर पा रही। ज्यों त्यो करके देवेन्द्र ने वरबस उसे खाना खिलाया, कपड़े पहनने को वाध्य किया और स्कूल के फाटक तक छोड़ आया। उर्म्मिला भीतर ऐसे घुसी जैसे मौत के मुँह में जा रही हो, साक्षात यमालय का द्वार जैसे उसके सामने खुला हो। क्लास में जाकर उसके मुँह से वोल ही नहीं फूटा, बुत बनी वैठी रही। यह तो ग़नीमत थी कि छोटे क्लास को पढ़ाना था, बच्चियाँ थीं, बात ज्यादा बिगड़ी नहीं। ऊँचा

दर्जा होता, बड़ी उम्र की लड़कियाँ होतीं तो शायद उनके प्रश्नो से घबराकर उर्म्मिला भाग खड़ी होती ! शाम को घर आई तो देवेन्द्र प्रतीक्षा कर रहा था। दिन भर का हाल जानना चाहता था। किताबें एक ओर फेंक, उर्म्मिला चुपचाप रसोई मे घुस गई। देवेन्द्र पीछे पीछे गया, बोला—क्या किया दिन भर ?

उर्म्मिला चिढ़ी बैठी थी, उसी स्वर मे उत्तर दिया—प्राण नही दिया, और सब कुछ किया ! तुम समझते होगे, बडा भारी काम कर डाला है ! जो काम कभी किया नही, वह कैसे मुझसे होगा जी !

शादी भी तो तुमने पहले कभी नहीं की थी ! कैसे कर ली ?—देवेन्द्र ने पूछा। वह हँस रहा था।

उर्म्मिला—वह बात और है। वह तो हमे करनी ही पडती है। उसके लिए माँ बाप हमे तयार करते हैं। यह काम तो कभी ....

देवेन्द्र बात काटते हुए बोला—बस, बस। यही सारे अनर्थों की जड है। माँ बाप को बेटी पैदा हुई नहीं कि उन्होने समझा, इसका विवाह करना होगा। उसे थोडा रामायण महाभारत पढ़ा दिया, सीता सावित्री का आदर्श सामने रख दिया, घर का म काज, चौका बरतन, सिलाई-बुनाई सिखा दी और वह ह के लिए, सीख पढकर प्रस्तुत हो गई। वह सब काम उसने सीख लिए जो एक पुरुष को प्रसन्न रखने भर के लिए पर्याप्त समझे जाते हैं। समय ने आगे करवट ली तो माँ बाप

की आँख थोडी और खुली। लड़की को शिक्षा बी० ए, एम० ए० की मिलने लगी, वह थोडा गाना वजाना भी सीख गई लेकिन यह सब वहीं तक जहाँ तक एक पुरुष को प्रसन्न रखने में सहायता मिल सके। क्योंकि, माँ वाप का उद्देश्य तो वही रहा, लडकी ज्यादा योग्य होगी तो विवाह की हाट मे उसका मूल्य जल्दी स्थिर हो जायगा। उन्हे वर खोजने मे परीशानी कम ही उठानी होगी। वर लक्ष्य वना सदैव आखों के सामने रहा, और इसके लिए कहा गया—कन्या-ऋण से मा वाप को उऋण होना ही पड़ता है! लड़की विचारी आखिर क्या करे? कहाँ से वह यह भावना मन मे लावे कि उसे कुछ और करना है। तो, ऐसे माँ वाप धूर्त हैं ऊर्म्मि, उनकी धूर्तता सीमा पर पहुँच चुकी है। लड़की को पढ़ा लिखा कर, फिर उसे वरवस एक नर की गुलामी मे डाल देना अत्याचार की चरम सीमा है। न पढ़ाना और भी धूर्तता है। ऐसे नीच माँ वाप, जो अपनी कन्या को व्याह देना ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं, कभी न कभी अपने किए का फल भुगतेंगे। और वे पति, जो आशा करते हैं कि मेरी स्त्री सम्पत्ति वनकर मेरे पास रहे, कभी इस बुरी तरह ठोकर खायेंगे कि वे ही जानें! पति वेचारा भी उतना दोषी नहीं, आखिर वह भी मनुष्य है! जव तक पत्नी का समस्त वोझ उठाता है, तव तक उसकी यह साध स्वाभाविक मानी जा सकती है कि पत्नी समर्पिता होकर रहे। यदि वह नहीं ही रह सके, उस दशा में

यह कर्त्तव्य ज़रूर पति का हो जाता है कि उसे अपने भ्रम से मुक्त कर दे। उस समय यदि वह पति दुनिया की लाज ढोता हुआ उसे अपने से उलझाए रहेगा तो अपना ही सर्वनाश करेगा। यह काम तो माँ बाप का है कि पुत्री को आज के युग की प्रगति से क़दम मिलाए चलने की शिक्षा दें। वे इस ज़िम्मेदारी से बरी नहीं हो सकते। यदि बरी रहना चाहते हैं और इस तरह अपनी पुत्री का भविष्य अंधकारमय बनाते हैं तो उन्हें नीच ही कहा जा सकता है। मैंने भी वही किया है। यदि तुम एकदम निरक्षरा होतीं तो निकाल कर बाहर कर देता, उस दशा मे मज़दूरी करके पेट पाल लेतीं और, फिर, सब कुछ खुलकर कर पाने की सामर्थ्य तुममे अपने आप जागती। तुम थोड़ा बहुत पढ़ी लिखी थीं अत मैंने यह रास्ता चुना। जो काम कभी नहीं किया वह कभी आगे भी न हो सके, यह कोई ज़रूरी नहीं।

उर्म्मिला को देवेन्द्र पर खीझ उठ रही है। यह क्यो मेरा उपहास कराने पर तुले बैठे हैं! ऐसा ही था तो मुझे व्याह कर लाए ही क्यो थे? मैं नौकरी कर रही हूँ, यह यदि बाबूजी सुनेंगे तो क्या कहेंगे? उनकी छाती फटकर टुकड़े टुकड़े हो जायगी! जो काम कभी उनके परिवार मे नहीं हुआ, वह मेरे .. उन्हें देखना पडा। पुरुष को क्या इतना अधिकार है कि जैसे चाहे, जब चाहे, जो व्यवहार स्त्री के साथ करे! पर, पर यह तो इन्होंने मेरे भले के ही लिए किया है! यदि मुझमें इतना

आत्मबल जागे कि मै अपने को पहचान लूँ तो क्या यह बुरा है! उससे मेरा लाभ ही होगा, हानि की सम्भावना तो नहीं है!

आश्चर्य है कि इस उलझन की अवस्था मे भी उर्म्मिला को अनूप याद आ गया। अनूप, जिसके एक दिन के कार्य के कारण आज उसे यह सब देखना पड़ा! उसे वह क्या कहे! अपने जीवन को नष्ट करने वाला या मुक्ति का साधन! उसीको केन्द्र-बिन्दु मान कर तो यह वर्तुल बने हैं, मूल में तो वही है! और आश्चर्य है, फिर भी पतिदेव कह रहे हैं कि उससे पहले जैसा ही मिलो जुलो। यह सच है कि निमत्रण पा जाने पर भी अभी वह नहीं आया, पर कभी तो जरूर ही आएगा! तब वह क्या करेगी? उससे पूर्ववत् मिल पाएगी! लेकिन, न क्यो मिले वह? गलत राह पर—उसे गलत राह कहा ही क्यों जाय—चल पड़ने की सम्भावना किसके जीवन मे नहीं होती? अपराध बुरी वस्तु हो सकती है, पर अपराधी! उसे तो सब जगह प्रेम करने को कहा गया है! अनूप तो उसके निकट अपराधी भी नहीं है, समाज के निकट भले ही हो! तो, उसकी अवहेलना कैसे की जा सकती है! वह आवे, उससे मिलेगी वह, ऐसे, जैसे कुछ हुआ ही न हो! जो कुछ होगया था वह तो अब लाख चाहने पर भी बदला नही जा सकेगा। फिर व्यर्थ का सोच, एक मनमुटाव पालकर वह क्यों व्यस्त हो? स्वामी ने आज उसमें आत्मबल भर दिया है, उसकी शरण वह क्यों न ले!

पति के मन की थाह ले लेना उसे जरूरी लग रहा है। कहीं अब भी तो वे उसे भुलावे मे ही नहीं डाल रहे हैं! साहस कर उसने रात को पूछा—अनूप फिर नहीं दिखा था ?

देवेन्द्र—दिखा था नही, दिखे थे कहो। स्कूल मास्टरनी हो तुम, इसी तरह लडकियो को शिक्षा दोगी ?

अच्छा, अच्छा। दिखे थे सही। तुम तो उन्हे बुला आए थे, आए क्यों नहीं ?—उर्म्मिला ने कहा।

देवेन्द्र—शायद मन मे डर रहा होगा—डरता न होगा तो संकोच के मारे न आता होगा।

उर्म्मिला—डर किस बात का ?

देवेन्द्र—सोचता होगा, उसने कोई बडा भारी अनर्थ कर डाला है। मेरे प्रति अपने को अपराधी समझ रहा होगा! आखिर है तो हिन्दू पिता की सन्तान न, पृष्ठभूमि इतनी उग्र सांस्कृतिक है कि सहज ही उससे छुटकारा पाना असभव है। खैर, वह चाहे जो हो, मै तो इस दृष्टि से देखता हूँ कि उसके कारण ही तुम आज अपने पावों खडी हो सकी हो। तुम्हे भी उसका कृतज्ञ होना चाहिये।

उर्म्मिला को जाने क्यो आज पति पर हँसी आ रही है। स्वतन्त्रता की भावना-मात्र ने आज उसमे इतना बल भर दिया कि कहीं सकोच नहीं, झिझक नहीं, जो जी मे आए कह रही है, जैसा चाहे व्यवहार कर रही है। पति की उपस्थिति मे मुँह पर ताला लगाने की चेष्टा और व्यवहारों के गोपन की ओर

उसका ध्यान नहीं ही रह गया है। हँसी आई तो हँस ली, उसे बरबस दबाने की ज़रूरत नही जान पडी।। देवेन्द्र थोड़ी देर देखता रहा, फिर पूछा—क्यो, हँसी क्यो ?

हँसना तो कोई अपराध नही है !—उर्म्मिला ने कहा।

देवेन्द्र—वह तो ठीक, पर बिना कारण हँसना अपराध न हो, मूर्खता ज़रूर है।

उर्म्मिला—यह कैसे जानते हो कि बिना कारण हँसी ?

देवेन्द्र—तो कारण बताओ। क्या मेरी बातों से तुम्हे हँसने का मसाला मिला ?

उर्म्मिला—कुछ ऐसी ही बात है। मुझे अपने पावो आप खड़ी कराकर तुम बहुत बडा गर्व अनुभव कर रहे हो। गोया यह कोई बहुत बड़ा गुण तुम्हारा है। बार बार इसी बात को दुहरा रहे हो। कृतज्ञ तो, खैर, मैं अनूप की हो लूँगी यदि जी चाहेगा, सवाल यह है कि तुम्हें क्यों इतना बडा काम यह मालूम हो रहा है ? ऐसी ही और स्त्रियाँ यदि अपने पावो आप खड़ी हो ले तो शायद तुम्हारी ही तरह और पुरुष भी इसे बहुत बड़ी चीज़ समझेंगे। इसमे तुमने कौन सा कल्याण सोचा है ? तुम लोग-पुरुष—इससे कितने ऊपर उठोगे ? यह भी कभी सोचा है कि नारी इससे जितनी ऊँची उठेगी ठीक उसी मात्रा मे तुमलोग, साथ ही, नीचे भी गिरोगे ? पुरुष यदि स्त्री को अपने बंधन से मुक्त कर देगा तो यह मुक्ति, बधनविहीनता एकपक्षीय तो नहीं होगी, साथ ही वह भी एक स्त्री के भरण पोषण और उत्तर-

पति के मन की थाह ले लेना उसे ज़रूरी लग रहा है। कहीं अब भी तो वे उसे भुलावे में ही नही डाल रहे हैं। साहस कर उसने रात को पूछा—अनूप फिर नही दिखा था ?

देवेन्द्र—दिखा था नही, दिखे थे कहो। स्कूल मास्टरनी हो तुम, इसी तरह लडकियो को शिक्षा दोगी ?

अच्छा, अच्छा। दिखे थे सही। तुम तो उन्हे बुला आए थे, आए क्यों नहीं ?—उर्म्मिला ने कहा।

देवेन्द्र—शायद मन में डर रहा होगा—डरता न होगा तो संकोच के मारे न आता होगा।

उर्म्मिला—डर किस बात का ?

देवेन्द्र—सोचता होगा, उसने कोई बडा भारी अनर्थ कर डाला है। मेरे प्रति अपने को अपराधी समझ रहा होगा। आखिर है तो हिन्दू पिता की सन्तान न, पृष्ठभूमि इतनी उग्र सांस्कृतिक है कि सहज ही उससे छुटकारा पाना असभव है। ख़ैर, वह चाहे जो हो, मैं तो इस दृष्टि से देखता हूँ कि उसके कारण ही तुम आज अपने पावों खड़ी हो सकी हो। तुम्हे भी उसका कृतज्ञ होना चाहिये।

उर्म्मिला को जाने क्यो आज पति पर हँसी आ रही है। स्वतन्त्रता की भावना-मात्र ने आज उसमे इतना बल भर दिया है कि कही सकोच नहीं, झिझक नहीं, जो जी मे आए कह रही है, जैसा चाहे व्यवहार कर रही है। पति की उपस्थिति मे मुँह पर ताला लगाने की चेष्टा और व्यवहारों के गोपन की ओर

उसका ध्यान नही ही रह गया है। हँसी आई तो हँस ली, उसे बरवस दबाने की जरूरत नही जान पडी।। देवेन्द्र थोड़ी देर देखता रहा, फिर पूछा—क्यों, हँसी क्यो ?

हँसना तो कोई अपराध नही है !—उर्म्मिला ने कहा।

देवेन्द्र—वह तो ठीक, पर बिना कारण हँसना अपराध न हो, मूर्खता जरूर है।

उर्म्मिला—यह कैसे जानते हो कि बिना कारण हँसी ?

देवेन्द्र—तो कारण बताओ। क्या मेरी बातों से तुम्हे हँसने का मसाला मिला ?

उर्म्मिला—कुछ ऐसी ही बात है। मुझे अपने पावो आप खड़ी कराकर तुम बहुत बडा गर्व अनुभव कर रहे हो। गोया यह कोई बहुत बड़ा गुण तुम्हारा है। बार बार इसी बात को दुहरा रहे हो। कृतज्ञ तो, ख़ैर, मैं अनूप की हो लूँगी यदि जी चाहेगा, सवाल यह है कि तुम्हें क्यो इतना बड़ा काम यह मालूम हो रहा है ? ऐसी ही और स्त्रियाँ यदि अपने पावो आप खड़ी हो लें तो शायद तुम्हारी ही तरह और पुरुष भी इसे बहुत बड़ी चीज़ समझेंगे। इसमे तुमने कौन सा कल्याण सोचा है ? तुम लोग—पुरुष—इससे कितने ऊपर उठोगे ? यह भी कभी सोचा है कि नारी इससे जितनी ऊँची उठेगी ठीक उसी मात्रा में तुमलोग, साथ ही, नीचे भी गिरोगे ? पुरुष यदि स्त्री को अपने बंधन से मुक्त कर देगा तो यह मुक्ति, बंधनविहीनता एकपक्षीय तो नहीं होगी, साथ ही वह भी एक स्त्री के भरण पोषण और उत्तर-

दायित्व से छुट्टी पा जायेगा। असल चीज यही है। उसे खुल कर खेल पाने का सम्पूर्ण सुयोग मिलेगा, उस नारी का फिर चाहे जो हो। यही न! सुधार और उन्नति के आवरण में अपनी कमजोरी और स्वार्थ छिपाने से क्या लाभ? सीधे सीधे तुम लोग यह क्यो नही कहते कि स्त्री भार जान पडती है, उसे अलग करना ही होगा। और इसका तो हक भी तुम लोगों को हासिल है।

यह नहीं कि देवेन्द्र उर्म्मिला का यह व्यग्य न समझे। समझ कर ही वह चुप हो रहा है। जवाब है उसके पास पर उसके लिए उचित शब्द नहीं पा रहा है। बात भी सही है। एक अर्थ इसका यह भी हो सकता है कि पुरुष, स्त्री स्वाधीनता आदि का राग अलाप कर स्वय अपना ही हित साध रहा हो! नारी-सुधारक का जामा पहन कर स्वय अपनी मङ्गलकामना में लीन हो! तो, उर्म्मिला की यह बात नितान्त मिथ्या भी नहीं है, अभ्रान्त सत्य भी नहीं! दोनों के बीच की वस्तु हो सकती है, पर देवेन्द्र पर यह लागू नहीं होती। उसकी इस चेष्टा में नारी सुधार की ही भावना प्रमुख है। उर्म्मिला को अलग कर वह जीवन का उच्छृङ्खल आनन्द उठाने की बात नहीं सोच रहा है। ो विचार उसके हैं, उनके अनुरूप चलकर वह केवल मार्ग दर्शन भर कर देना चाहता है। निष्क्रियता की ओट लेकर यह नहीं समझ लेना चाहता कि समय के साथ साथ नारी स्वय स्वाधीन हो जायगी। किसी न किसी को तो आगे बढ़ना ही

होगा-तो वह स्वय ही क्यो न बढ़े ? कहा उसने—ऊर्म्मि, जैसा कि तुमने स्वय कहा, हम लोगो को इस बात की स्वतन्त्रता है। हम यदि एक नारी के बन्धन से मुक्ति पाना चाहें तो दस रास्ते हैं। तुम्हारी ही बात तुम्हारी शङ्का का उत्तर दे रही है। आन्दोलन उसी चीज़ के लिए किया जाता है जो पास मे नही होती। स्वतन्त्रता तो हमारे पास है ही, उसके लिए हम क्यो नए सिरे से हाय तौबा मचाएँ ! रह गई स्त्रियो के भार जान पड़ने की बात, तो यह बहुत अशों तक सही भी है। आज के युग मे, जब परिस्थितियो के कारण नर अपना ही बोझ पूरी तरह नही उठा पाता, उसका यह कहना सही है कि नारी का आजीवन का बधन उसके लिए बोझ है।

उर्म्मिला—हाँ, ठीक ही है। एक नारी का आजीवन का बधन बोझ है, उसे दूर कर दो। भौंरा बने फिरो, तितलियो की कमी दुनिया में थोड़े ही है। यही न चाहते हो तुम लोग ?

देवेन्द्र—ठीक यही बात, इसी रूप में, चाहते हों—ऐसा नहीं है पर यह ज़रूर है कि इससे भी प्रलय नही आ सकेगा। नर नारी यदि मुक्त होकर अपना जीवन-साथी ढूढ़ें तो अनिष्ट न होगा, कल्याण ही होगा। ख़ैर, यह सब तो होता रहेगा, अनूप के बारे में तुमने निश्चय क्या किया ? उससे मिलोगी न ?

उर्म्मिला—मिलूँगी बाबा, मिलूँगी। न मिलूँगी तो जाऊँगी कहाँ ? तुम्हारे साथ रहना है तो तुम्हारी प्रसन्नता का ध्यान

रखना ही होगा। यह न समझना कि तुम्हे छोड़कर मैं कहीं और जाऊँगी। तुम्हें छोडते मुझसे न वनेगा, और चाहे जो हो !

रात काफी जा चुकी है। आँगन मे दो चारपाइयाँ हैं, एक पर इस समय वच्चा सो रहा है और उसी पर पाँव नीचे लटकाए उर्म्मिला झुकी हुई, पास की लालटेन की रोशनी में, कुछ पढ़ रही है। शायद कल स्कूल जाने के पहले पाठ तयार कर लेना चाहती है, ऐसा न हो कि आज की तरह क्लास-रूम मे उसकी वोली ही रुक जाय ! इस समय खाना वना-खा चुकी है अत. अवकाश ही अवकाश है ! सवेरे समय नहीं मिलेगा, घर के काम भी तो देखने हैं ! घर के काम वह नहीं छोड़ दे सकती, किसी दूसरे पर उसका भरोसा नहीं ! भरोसा हो भी तव भी वह अपना काम दूसरो से क्यो कराने लगी ? कमाने के यह अर्थ तो नहीं हैं कि नारी अपनी वास्तविकता त्याग दे ! घर के काम तो उसके नारीत्व के छोटे छोटे उपादान हैं ! रात को ही उसे अवकाश मिलेगा—और वह स्कूल का काम कर लेगी । देखेगी, यदि वाहर के काम से उसके घर के काम मे व्याघात उपस्थित होगा, तो वह उस काम को छोड़ देना अधिक पसन्द करेगी।

पढ़ती जाती था वह और यही सव सोचती जाती थी ! रात का समय था, अपने घर मे थी वह, किसी वाहरी आदमी के आने की सम्भावना भी इस समय नही तभी उसने सोने के समय के कपड़े पहन रक्खे थे। पुरुषो की तरह नाइटड्रेस और

ड्रेसिङ्ग गाउन की सहायता से अधिकांश भारतीय स्त्रियाँ अपना शयन-परिधान नही सँवारतीं, यद्यपि सँवारें तो कुछ बुरा न लगेगा। चारख़ाने के या धारीदार कमीज पाजामे मे युवतियाँ पुरुषो से अधिक मोहक और सुन्दर दिखती हैं। सो, उर्म्मिला इस समय केवल एक सारी-जम्पर पहने हुए थी, रात को कसा पेटीकोट पहन रखने की कोई आवश्यकता नहीं थी। देवेन्द्र दूसरी चारपाई पर, उलटी करवट, पड़ा पड़ा कुछ सोच रहा था देर से, अब उठा। बोला—मास्टरनीजी, अभी सोने का समय नही हुआ ?

उर्म्मिला—तुम सोओ न ! जो रोग पाल लिया है उसका सामना तो करना ही होगा। अगर इस समय पाठ देख न लूँगी तो कल क्या समझाऊँगी क्लास में ? अपना सिर ? तुम तो आराम से घर बैठे रहोगे ! न होगा तो कोई किसान मजदूर मीटिंग की बात सोचोगे !

देवेन्द्र को लगा, उर्म्मिला पर जैसे बड़ी भारी ज़िम्मेदारी आ पड़ी है और वह उसे महसूस भी कर रही है। अभी नया नया जोश है, अगर अभी रोका तो आगे कुछ न हो सकेगा। वह उठ कर बाहर कमरे में गया, एक पुस्तक निकाल लाने की सोचा ताकि जब तक उर्म्मिला जागती रहे, वह भी पढ़ता रहे। किताब लेकर उसे उर्म्मिला की बगल से आना पड़ा, वह उस समय तन्मय किताब पर झुकी हुई थी। देवेन्द्र कुतूहल-वश बगल मे खड़ा होगया ताकि देख पाए, वह कौन सा पाठ पढ़ रही है। थोड़े

उसने किताब की ओर ले जाने की चेष्टा जरूर की पर वह बीच मे ही रुक गई—कहना चाहिए कि अटक गईं। झुकी हुई उर्म्मिला के बॉडिस-विहीन जम्पर से—जो उर्म्मिला के झुकी हुई होने के कारण थोडा आगे, ढीला हो लटक आया था, दो सुघर, सुडौल, गोरे और कसे कमल से उरोज बाहर सिर निकाल कर झाँकने की जैसे चेष्टा कर रहे थे। देवेन्द्र कुछ भी हो, मानव था, पुरुष था। एकान्त, निर्बंध रात्रि के मौन प्रहरो मे यह नारी का चिर-सत्य, मादक रूप दर्शन, यह सामीप्य का अनुभव और यह सहज-प्राप्य स्पर्श वह छोड़ दे, किसी भावना से त्याग दे, इतना बड़ा नपुसक वह नहीं। यह नहीं कि यह दृश्य उसके लिए कुछ नवीन रहा हो—उर्म्मिला के अग-प्रत्यग की उसे पूरी जानकारी थी, पर इस समय क्यों एक नशा-सा उस पर छा गया, क्यो उसे लगा कि यह अभूतपूर्व दृश्य है, इसे सोचने का उसके पास जैसे समय ही नहीं। एकटक देखता रहा, देखता रहा तब तक, जबतक उर्म्मिला की आखें ऊपर नहीं उठी और उसने बात समझ, आँचल ठीक ठिकाने नहीं डाल लिया। शरमाती हुई-सी बोली—क्या देख रहे थे ?

देवेन्द्र—कुछ नहीं ऊर्म्मि! आज तुम मुझे इतनी नई-सी क्यो लग रही हो? जी करता है, कृष्ण की तरह कहूँ—ऐसी ही रहु नारि!

उर्म्मिला—हटो, यही सब वाही-तवाही की बातें तो मुझे नहीं सुहातीं! इतने बड़े हुए, एक लड़के के बाप हुए, अभी यह सब पागलपन नहीं गया!

देवेन्द्र—और मैं भी कहूँ, इतनी बडी तुम हुई, एक लड़के की माँ हुई, फिर भी लोगों को पागल कर देने की बान तुम्हारी न गई। क्यो ?

उर्म्मिला—लाज शर्म जब आदमी घोल कर पी जाता है तो तुम्हारे जैसा ही हो जाता है। मुझ से ऐसी बातें अब न किया करो। बूढ़े हुए पर हविस न गई।

युवती की 'हाँ' जब 'ना' के आवरण में आगे आती है तो और भी मादक होती है! 'हटो' के रूप में 'आओ' का निमन्त्रण बडा सुहाना, बड़ा रगीन और शराब-सा होता है। वही हुआ और तभी हमें यहाँ आध घटे ठहरना होगा। जी करता है, लेखक आपको आगे की झाँकी करा दे—वह सब जानता है—पर दुनियाँ के मर्यादा की सीमा उसका हाथ रोक देती है।

कहाँ रह गई किताब, कहाँ गया कल का वह स्कूल का पाठ, कहाँ गई ज़िम्मेदारी की भावना, आध घटे बाद जब उर्म्मिला फिर पुस्तक उठाकर तन्मय होने की चेष्टा करने लगी, देवेन्द्र से न रहा गया। कहा—देवी, यह लाइट अब कृपाकर बुझा दो। सर पर यह लाइट लेकर मैं नहीं सो सकता।

उर्म्मिला ने दोनों शर्माई आँखें उसकी ओर उठाकर धीरे से कहा—हाँ, अब क्यों नहीं सोओगे। अब और करना ही क्या है ? चलते हैं बिचारे स्त्री-जाति का सुधार करने। यही तुम्हारा सुधार है न !

वात तर्क के लिए नहीं कही गई है तभी देवेन्द्र का जवाब देना जरूरी नही। वह इस शूगर कोटेड उलहने को सुनकर चुप ही रहा। थोड़ी देर बाद जब उर्म्मिला रोशनी बुझाकर, बच्चे को अच्छी तरह छाती से चिपका कर लेटी, देवेन्द्र ने कहा—ऊर्म्मि, एक बात पूछूँ!

उर्म्मिला—पूछो।

देवेन्द्र—वेतन के रुपए जो मिलेंगे, क्या करोगी उनका?

उर्म्मिला—लाकर तुम्हारे आगे धर दूँगी, जो चाहे करना। मुझे क्या लेना देना है?

देवेन्द्र—ना ना ऊर्म्मि, यही जानने के लिए मैंने यह प्रश्न किया था। मैं समझता था, तुम जरूर कोई न कोई ऐसी ही बात सोच रही होगी। रुपए मैं न लूँगा, कहोगी तो तुम्हारे नाम बैंक में जमा करता जाऊँगा।

उर्म्मिला—क्यों जी, जब मैं कमाऊँगी तो घर की व्यवस्था और खाने पीने में मुझे खर्च भी तो करना चाहिए!

देवेन्द्र—जरूर, और वह होगा। तुमसे भी तुम्हारी आमदनी का कुछ हिस्सा मैं घर के व्यय के लिए लूँगा, बाकी के रुपए जमा होते जायँगे ताकि कभी मैं न रहूँ या तुम ही अलग रहने की सोचो तो तुमको काम दे सकें।

उर्म्मिला का सस्कारयुक्त हृदय इस 'अलग रहने' या देवेन्द्र 'न रहने' वाली बात पर डोलने जा रहा था कि देवेन्द्र ने बात बदल दी। ऐसा न हो, अभी से यह सब सुन उर्म्मिला नौकरी

पर लात मार दे। कहा उसने— खैर, जाने दो उस बात को। देखा जायगा। पहले वेतन मिलने तो दो। इस समय एक गाना सुनने की इच्छा हो आई है तुम्हारे गले से! सुना तो दो रानी चटपट एक गाना!

समय के प्रभाव से, दुनियावी भाषा मे 'पुरखिन' बनी नारी उर्म्मिला, इस समय चौदह पन्द्रह वर्ष की शोख, अल्हड बालिका सी बन गई। मचल कर कहा—उहुँक, मुझे नींद लग रही है।

हाथ बढ़ाकर उसे गुदगुदाते हुए देवेन्द्र ने कहा एक गाना तो सुनाना ही होगा ऊर्म्मि, देखूँ कैसे सोती हो! ऐसा गाना जिससे मेरी पलकों पर नींद उतर आए!

उर्म्मिला ने हँसकर उत्तर दिया—तो गाऊँ वही—'सोजा राजकुमारी, सो जा!'

देवेन्द्र--देखो, मेरा अपमान न करो। राजकुमारी तुम होगी, मैं क्यों होने लगा? मैं पुरुष हूँ, पुरुष! कहकर देवेन्द्र ने अँधेरे में ही गर्व से छाती फुलाई जिसे उर्म्मिला देख न सकी। वह कठ के भीतर ही गुनगुनाने लगी थी। थोड़ी देर बाद उसके गले से, लोच और मिठास के साथ, निकला—

*नभ का दीप जला करता है।*

*अनगिन अवरोधों में मानव अपनी राह चला करता है।*

देवेन्द्र ने एक दो पंक्ति सुनकर टोंक दिया--यह कुछ नहीं हुआ ऊर्म्मि! यह क्या मर्सिया लेकर बैठ गई? कुछ दूसरा . कुछ ऐसा.. ...

बहुत दिनों का भूला हुआ गायन उर्म्मिला के कंठ में फूट पड़ा ! वही, जिसे गुनगुनाते गुनगुनाते वह उस दिन देवेन्द्र के सामने पड़ी थी जब वह गाँव से लौटा था। वही, जो एक पंक्ति के बाद ही उस दिन कण्ठ में अवरुद्ध हो रहा था और आज तक अवरुद्ध ही रहा। जो उसे बहुत अधिक प्रिय था और जिसे वह बहुत दिनों से गाना चाह रही है पर अवसर नहीं मिल रहा था। आज अवसर पाकर—पति की ओर से, नहीं नहीं, देवेन्द्र की ओर से उत्सुक निमंत्रण पाकर---वह गायन उसके स्वर में मचल रहा है। गा उठना चाहती है वह उसे पर बरबस अपने को रोक रही है। क्या जाने उसका कोई दूसरा अर्थ लगाया जाय ! उसके स्थान पर कोई दूसरा गाना भी वह सोच रही है, तभी देवेन्द्र ने फिर कह दिया—गाओ रानी !

उर्म्मिला अब अपने को अधिक नहीं दबा सकती। कम्पित स्वर में उसके गले से निकल ही पड़ा वह उस दिन का अनादृत, उपेक्षित और अवरुद्ध संगीत !—

*मैं पलकन पग चूमूँ पिया के।*
*अँखियन पूछूँ हाल हिया के।*
*फूलन के तन सों भुज भर दूँ,*
*मैं अपने बालम रसिया के ·· · ··*

तन्मय होकर देवेन्द्र संगीत सुनता रहा, जैसे, शरद की मधुर ज्योत्स्नामयी यामिनी में, पिछले पहर, कल्पना की तरी पर आरूढ़, वह किसी सरोवर के वक्ष पर उठती गिरती, अल्हड़

लहरियो के साथ साथ, विभोर, डोल रहा हो। गीत जब थमा, स्वर का समा जब टूट गया, रागिनी जब शान्त हुई तो वह भी जैसे नन्हें से आँगन मे लौट आया। उर्म्मिला की ओर देखता हुआ बोला—ऊर्म्मि!

क्या है? बोलो।—उर्म्मिला ने उत्तर दिया।

देवेन्द्र—जानती हो, ऊर्म्मि के क्या अर्थ होते हैं?

उर्म्मिला—नहीं। बताओ।

देवेन्द्र—यो तो बहुत से वाहियात अर्थ भी हैं, पर सबसे सुन्दर है लहर, तरङ्ग! जानती हो, तुम्हारा गाना सुनते सुनते मैं क्या सोच रहा था? यों ही लहर, तरङ्ग बनी रहना ही तुम्हारे जीवन की सार्थकता है। समस्त नारी जाति का यही गुण उसे ऊँचे उठा सकता है। ठीक नाम के अनुरूप तुम्हारा कठ भी है, ऐसा ही मुक्त, प्रवाहशील तुम्हारा जीवन भी होना चाहिए रानी! कहीं कोई झिझक, सकोच नहीं, अपनी गति से आप मचलती चली चलने के ही लिए तुम हो। तुम्हें बधन मे बाँध कर रख ही कौन सकता है, तुम तो स्वय सबल हो। ससार के कुत्सित आघातों को छाती खोल सहने की क्षमता अपने मे पैदा करो। उसी दिन तुम्हारा नारीत्व सफल होगा।

बात सही चाहे जितनी हो, इस समय भावुकता से ही प्रेरित हो मुख से निकल रही है, इसमें सन्देह नही। वर्तमान वातावरण में व्यवहार-ज्ञान जो आवश्यक है वह इस बात मे नहीं है। उर्म्मिला भी इतना समझती है। बोली—लहर बनने में तो मुझे

क्या, किसी भी समझदार स्त्री को एतराज न होगा पर एक बात है। किसी सरोवर या नदी या सागर के वक्ष पर तरङ्ग-माला को बनते मिटते तुमने देखा है या योंही कविता करते जा रहे हो ? देखा है कभी, किस तरह वे लहरें एक दूसरे से आपस मे ही टकराकर, टूट टूट जाती हैं ? क्षण भर का उनका जीवन होता है, कहते देर लगती है पर उन्हे बनते और मिटते—यह देखो, इतना सा, इतना सा समय भी नही लगता। तुम क्या यही चाहते हो ? फिर मुझे कहना पड़ रहा है—यही है तुम्हारी नारी-सुधार की योजना जिस पर इतना नाज है ? नारी को ऐसी ही बनाकर तुम उससे कुछ आशा रखते हो ?

सच कहें तो देवेन्द्र को इस बात का जवाब नहीं मिल रहा है। ठीक ही तो है ! उद्वेलित जलराशि में लहरो को बनते मिटते कितनी सी देर लगती है ! पीछे के प्रबल आघात से गतिमय बनी तरङ्ग, अपना स्थान बनाने के हेतु, आगे की तरङ्ग को पल-भर में दबोच लेती है, उसे अस्तित्वशून्य कर देती है। नारी भी, इस अर्थ मे वही है। युग-युगावधि के अंधकार से सहसा ही प्रकाश मे आकर खडी होने पर अथवा खडी कर दी जाने पर, क्या आश्चर्य है जो वह संघर्ष में मिट जाय, अपने को ही नष्ट कर डाले ! अधिक संभावना इसी की है। यदि कोई दृढ़ हाथ को पीठ पर न रहा, आवश्यकता होने पर जिसका सहारा ले ले तो आरम्भ मे वही दशा होगी जो विस्तृत सागर के वक्ष पर लहरों की होती है। कोई संगठन नहीं, कोई सामूहिक

चेष्टा नही, कोई सम्मिलित प्रयत्न नही, तो भीड़ लगाकर शोर मचा देने भर से कुछ नही होगा। यही होगा कि अपने हाथो अपने पावों में कुल्हाड़ी मार, नारी चुप हो बैठ रहेगी।

नारी हार मानती है तो समझौता कर लेती है। पुरुष हार मानता है तो खीझ उठता है, बात बदल देता है या चुप हो रहता है। देवन्द्र चुप हो रहा। उर्म्मिला डरी, कहीं नाराज तो नहीं हो गए! पूछा—चुप क्यों हो गए?

सोओ अब, नीद लग रही है।—देवेन्द्र ने उत्तर दिया और करवट बदली।

बच्चा कुनमुना उठा। उसे छाती के और पास खीच, उर्म्मिला ने सोने का उपक्रम किया।

विचार :— प्राचीन परम्परा और [illegible] समाज के अन्दर लेखक ने जिस सम्बन्ध के बारे में अपना विचार प्रकट किया है जिसमें सुधार करने की भावना नहीं दिखा[illegible] है और पुराने समाज की एक झांकी का वर्णन किया। जिसमें सुधार [illegible] और अनैतिकता का वातावरण [illegible] पारिवारिक के [illegible] [illegible]

## चौदह

सदाशिव की बीमारी बढ़ती ही गई। अच्छे से अच्छे डाक्टर वैद्य उन्हे मृत्यु की ओर बढ़ने से रोक पाने मे असफल रहे। मन की चोट से आदमी का जीवन कितना व्यर्थ हो जा सकता है, सदाशिव इस समय इस बात के जीवित प्रमाण थे। जवान होते वह, तन में तेजी होती, मन मे मगन होने की सामर्थ्य तो आज उनकी यह दशा न होती। शिथिल तन मन लेकर, एक दुराशा-वश ही उन्होने व्याह किया था, सोचा था, जिन्दगी के आखिरी इने गिने दिन सन्तोष और तृप्ति के साथ बीत जायँगे। पर, सोलह साल की सनेह की सजीव पुतली सदाशिव को जब सन्तोष दे पाने मे समर्थ न हुई, उलटे उन्हें अन्धकार के अथाह अतल मे डुबो गई, तो भीतर ही भीतर वे समाप्त होने लगे। इतना ही नहीं, बुढ़ापे की लकडी अनूप भी उनसे अनखा कर अलग चला गया। बेटी का व्याह करना है, वे जा रहे हैं, कोई पुरसाँ-हाल नहीं। वहू का सुहाग—अनादृत सुहाग उनका मुँह चिढ़ाता। इन सब मानसिक दुश्चिताओं से त्रस्त, ध्वस्त और व्यस्त सदाशिव, न चाहने पर भी, मृत्यु की

ओर बढ़ने लगे। बढने ही लगे।

और जब बढ़ने लगे तो किसकी सामर्थ्य है जो रोक ले! डाक्टर तन का उपचार कर सकता है, मन का नही! सदाशिव की बीमारी मे--साघातिक बीमारी मे—मन का हाथ ही अधिक है। आज अवस्था भयानक है!

सावित्री और प्रभा ने देखा, रोग अब उनके मान का नही रह गया। डाक्टर आते, देख कर चले जाते। चौबीस घटे तो वे भी नही रह सकते थे। रात रात जागकर, अपना खाना पीना, सोना भूलकर प्रभा और सावित्री ने सदाशिव को उठा कर बिठा देने की चेष्टाएँ की पर व्यर्थ! जीवन और मृत्यु के पाटो के बीच पिसते सदाशिव दिन दिन अवश्य होते गए, आगत भविष्य जमकर उनके मुख पर दृढ़ होता गया। आकृति उनकी निरन्तर भयानक होने लगी, बात बात पर चिढ़ उठना उनका स्वभाव होगया। आज तो सावित्री के माथे पर लगा सिन्दूर देखकर ही लाल होगए—न जाने क्यो! वह अभी अभी ही नहा कर आई थी। एक बार कमरे में झाँक कर देख गई, सदाशिव तकियो पर उठँगे, आखें मूँदे हुए थे। प्रभा पास ही बैठी थी। सकेत से पास बुला, सावित्री ने कहा—देखो, बाबूजी शायद सो रहे हैं। मैं नहा आई हूँ, तुम भी जाकर स्नान कर लो। न हो, चाय यही महराज से मगवा लो। तब तक मैं आई।

प्रभा एक बार सदाशिव की ओर देख, दबे पावों बाहर निकल गई। थोडी देर बाद जब सावित्री लौटी, सदाशिव की

आँखें खुली, द्वार की ओर लगी हुई थीं। सावित्री के केश पीठ पर लहरा रहे थे, गीले थे पर उन्हे माथे पर, दो सुघर भागों में बाँट, उसने सिन्दूर की लाल रेखा डाल ली थी। पतिवाली थी न वह, और अभी तक अधिकाश हिन्दू घरो मे सुहागनो का सिन्दूर-विहीन माथा 'अभाग्य' का चिन्ह समझा जाता है।

सदाशिव ने देखते ही पूछा—नहा लिया ?

जी हाँ बाबूजी।—सावित्री ने उत्तर दिया।

क्यो, यह माथे पर क्या लगा रक्खा है री! सिन्दूर! पागल, मिटा इसको। मिटा अभी, मै इसे नहीं देख सकता। क्यों उस नालायक की चाह लिए बैठी है? वह तुझे अपनी नही समझता और तू उसका नाम लेती लेती मर जायगी! मैंने जो सब इतना, कौड़ी कौडी बटोर, एकत्र किया है वह सब किसके काम आएगा? तेरा ही तो है, तू और प्रभा मिलकर इस सबका भोग करना। उस पाजी को एक कौडी भी न देना। जो अपने बाप को मरता जान कर भी नही आया, उसका मैं मुँह भी नहीं देखना चाहता।—सदाशिव प्रलाप-सा कर उठे।

सावित्री घबरा गई। चीख उठी—बाबूजी!

लाल आँखें कर सदाशिव फिर गरजे—हाँ, मैं उसका बाप। मैं कहता हूँ, जोर देकर कहता हूँ कि उसका मुँह भी मैं देखना! नहीं चाहता। मिटा इस सिन्दूर को अभी मेरे सामने! मिटा! नहीं यह देख, मारता हूँ इससे.....

सदाशिव ने तिपाई पर स दवा की शीशी उठा ली थी और फेंक कर मारने ही जा रहे थे कि आगई प्रभा। जैसे कुछ हुआ ही न हो, वह शान्त, स्थिर, बिल्ली-से, निरीह से पड़ रहे, दवा की शीशी अभी भी उनके हाथ में रही। प्रभा ने पूछा—क्या हुआ भाभी, अभी यह शोर ...

मैं पूछता हूँ बेटी, मेरा मरना निश्चित जानकर भी अनूप क्यों नही आया? उसके लिए मै क्या इतना गैर हो गया? मृत्यु के समय तो बेगाने भी अपने हो जाते हैं, फिर अपना ही—अपने ही रक्त मांस का अश—यों बेगाना क्यों बना हुआ है?—हृदय की सारी करुणा स्वर में भर, कातर आँखों से सदाशिव ने पूछा।

उन्हें कुछ मालूम ही कहाँ है बाबूजी? उनका तो पता तक किसी को नही मालुम!—प्रभा ने कहा।

सावित्री मुँह ढाँप वहाँ से चली गई। आँखो के उमड़ते अश्रु-वेग को शान्त करना उसके लिए कठिन हो गया। आज उसके पति को लेकर इतना अवांछित काड हो रहा है। आजीवन यह लाछन उसके चारो ओर लिपटा रहेगा। लोग कहेंगे—यह ऐसे पति की पत्नी है जिसका बाप मर तक गया पर जो घर न आया!

सदाशिव कहने लगे—कहती क्या हो बेटी, ऐसा कभी सभव है! दुनिया मे कभी ऐसा हुआ है कि बाप मर जाय और बेटे को खबर भी न हो! पिता मृत्युशय्या पर हो और पुत्र पास

न हो ! इसी दिन के लिए पुत्र होता है ? ऐसा ही होने के लिए बाप अपने कलेजे का रक्त पिला पिला कर बेटे को बडा करता है ? ना, ना बेटी, बूढ़े को ठगो नहीं ! वह एक बार आ जाता तो पूछता—क्यो रे, बाप की इज्जत ऐसे ही की जाती है !

थोड़ी देर के लिए वहाँ शान्ति हो गई। लगा कि सदाशिव का जी इस समय अस्थिर है, वह स्थिर नही कर पा रहे हैं, क्या कहें क्या नहीं ! प्रभा काँपकर रह गई। आज अपने अनूप भैया पर--उनकी भावुकता पर और उनके व्यवहारो पर वह—कठिन हो आई। जी हुआ, यदि वह सामने होते तो ख़ूब ख़ूब खरी खोटी सुनाती, कहती कि मुझ पर भावुकता का आरोप लगाने के पहिले स्वय अपने को देखो, क्या हो ! तुम्हारे घर मे बने रहने से एक तुम्हारे ही आत्मा की हत्या होती—वह भी थोडे दिनों के लिए, समय का प्रवाह सब कुछ, सारा मनोमालिन्य धो पोंछ कर साफ़ कर देता—पर तुम्हारे निर्वासन से जो सारे घर पर अव्यवस्था और विपत्ति के बादल छा गए हैं, इसका भी तुम्हें कुछ ध्यान है ? ससार की गतिविधियो से अनवगत दो युवतियो पर समूचा भार लादकर इधर उधर फिरते रहने में तुमने किस वीरत्व और आदर्श का परिचय दिया है। अनि-यम और अन्धे आदर्शों की अवहेलना ऐसे नहीं हुआ करती ! यह तो कायरता है, कायरता ! सघर्ष से मुँह चुराकर भाग जाना सुलझन की ओर नहीं प्रेरित करता, यह तो उलझन को और बढ़ाने का उपाय है ! घर में बने रहकर यदि पिता का हृदय-

परिवर्तन कर पाते तो उसमें बहादुरी थी। यही तो होता कि घर में पदे पदे तुम्हारे विरोध से—अपने ही बेटे के वैमनस्य से—वह चिढ़ उठते, सम्भव था तुम्हे निकाल देते, अपनी सम्पत्ति का शतांश भी, क्रोध में तुम्हे न देते, तो यह तो कोई बड़ी बात न थी! कम से कम, तुम पर उस दशा में कोई उत्तर-दायित्व न होता, आज जैसी परिस्थिति न उत्पन्न होती! तुमसे राम की अन्ध-भक्ति मैं नही चाहती। पिता यदि गलती पर हैं तो उनका विरोध न किया जाय, यह मैं नही कहती। विरोध करो, खुलकर करो, पर ऐसे नहीं। हर काम का एक ढग होता है, विरोध प्रदर्शित करने का भी एक सुन्दर उपाय हो सकता है।

पर आज, इस समय, यह सब सोचना समझना व्यर्थ है, यह भी वह समझ रही है। जो नही है, उसे लेकर मन बिगाड़ना ठीक नहीं। उसे तो इस समय वर्त्तमान को सम्हालना है—वर्त्त-मान, जो पल पल तीखा होता जा रहा है। मरुभूमि में ढोल का शब्द जिस तरह मात्र एक पल में फैल जाता है, सदाशिव की बीमारी का संवाद भी, उसी तरह मुहल्ले भर में, एक मुँह से दूसरे मुँह, फैल गया है। तभी पास पडोस के भले लोग, सदा-शिव के परिचित अपरिचित, साथ ही मुहल्ले की बड़ी बूढ़ी पुर-खिने —जिनका काम ही ऐसे अवसरों पर पहुँच बनावटी आँसू बहा देना होता है, सिमट कर उस बड़े घर में, घर के कमरों में, रोगी के कमरे तक में, पहुंच गए हैं। पुरुष तो कम, स्त्रियाँ

ही, लगता है कि अधिक विचलित हो उठी हैं, यद्यपि स्त्रियों की इस विकलता में वास्तविकता कितनी-सी होती है, यह सभी जानते हैं। सदाशिव अब बोल भी नहीं पा रहे, चुपचाप खुली आँखों से इस जनसमुदाय की ओर देख रहे हैं, आगन्तुक विभीषिका का विश्वास यह सब देखकर और भी उनके मुख पर दृढ़ हो गया है। बेचैनी से, रह रह, करवट बदलते हैं और फिर, जैसे कुछ सोच, शान्त हो रहते हैं।

एक बूढ़ी ने प्रभा को अलग ले जाकर कहा—बेटी, बहूरानी अभी नहीं आई ?

अनिच्छा से प्रभा ने उत्तर दिया—नहीं।

ख़बर तो दे दी है न ?—उसी बूढ़ी ने फिर पूछा।

हाँ।—संक्षिप्त उत्तर देकर प्रभा ने गला छुड़ाना चाहा। वह नहीं चाहती, उसके घर के मामलों में कोई हस्तक्षेप करे। लोग क्यों उसके यहाँ फटे पड़ रहे हैं! वह तो किसी से सहायता नहीं चाहती! भोली यह नहीं सोच पाती कि चिरन्तन से दुनिया का यहीं दस्तूर है, जीते जी जो दीख भी नहीं पड़ते, मरने के समय वहीं 'अपना' बनना चाहने लगते हैं!

'पुरखिन' का मन न भरा, साथ ही, प्रभा के अनिच्छुक उत्तर ने उसे छेद भी दिया। गत कई सुदीर्घ वर्षों में न जाने कितने मरनेवालों की शय्या के समीप बैठकर रोने में अभ्यस्त स बूढ़ी का दिल इससे दुखा। वहाँ से हटकर समवयस्का एक दूसरी बूढ़ी के पास पहुँची जो व्यर्थ ही आँचल से आँसू पोंछ

रही थी—विना आँसू के आखे रगडते रहने से वे कुछ लाल भी हो आई थी। कहा--वहन, मुझे तो कुछ दाल मे काला दीखता है। कव से तो सुन रही हूँ, तार गया है, चिट्ठी गई, है अव आती हैं, तव आती हैं पर आजतक वहूरानी का पता नही। क्या वात है?

यही तो मैं भी सोच रही हूँ वहन, ऐसा 'कठकरेज' भी कोई होता है! जव अभी नही आई तो अव कव आएगी ?—दूसरी ने मार्मिकता से, पोपला मुँह हिलाकर, अपनी सम्मति जनाई।

सावित्री इसी समय कमरे मे आई—सदाशिव की पलॅग के पास जाकर वोली—वावूजी, माँ आई हैं। अभी चली ही आरही हैं।

माँ! ज्योति! आई है! सभी की उत्सुक दृष्टियाँ—आगमन की आशा में व्यस्त उन दोनो वूढ़ियो की आँखें भी—द्वार की ओर फिर गई। और सदाशिव! उनकी मुँदती आँखो की कोटरो से तर, तर, तर आँसू की वूदें झर चलीं--न जाने क्यो! द्वार पर ज्योति खडी थी, वैसी ही सिन्दूर-विहीन, यात्रा से क्लांत, चकित और यौवन से वोझिल! सवने देखा, आयन्तुक भविष्य की भयकरता से अनजान युवती ज्योति अपना इस समय का कर्त्तव्य नही स्थिर कर पा रही है, स्वप्न की दुनिया से यकायक कठोर सत्य के संसार में आ खडी होने पर वह स्तब्ध रह गई है। आसपास के उपस्थित समुदाय का भी उसे ज्ञान नहीं, एकटक, चुपचाप देख रही है सामने पड़ी पलँग पर

की अस्थिचर्मावशिष्ठ काया ! क्षीण से क्षीणतर और क्षीणतम होती जाती हुई दुर्बल देह ! कंकाल !

प्रभा ने दौड़कर चरण छुए, ज्योति ने उत्तर में कुछ कहा किन्तु आँखें सामने ही स्थिर रहीं, अपलक ! हाथ पकड कर प्रभा उसे आगे लाई। उपस्थित लोगों से बाहर चले जाने को कहा, लोग चले गए। पर घर से नहीं गए, ज्योति को सामने पाकर लोगों की—विशेषतया स्त्रियों की—स्कैंडल, अपवाद की प्रवृत्ति कसमसाने लगी, ऐसा न हो कि चले जाने पर अवसर हाथ से निकल जाय।

ज्योति धीरे धीरे चरण छूने को झुकी, साथ ही सदाशिव की आँसू भरी पलकें भी झुकती गई। प्रभा बाहर चली गई। ज्योति उठकर सिरहाने आई, कहा—मुझे तो कुछ मालूम ही नहीं था। कल प्रभा का तार पाकर चली हूँ। पहले क्यों नहीं सूचित करवा दिया ?

मौत के मुँह मे पाँव दिए सदाशिव की वाणी न जाने क्यो इस समय चेतन हो आई। कष्ट से बोले—क्यों आई ? मैं जैसा था, भला था। जाने के समय यही दु ख है कि तुमने मुझे ग़ैर क्यो समझा ! तुम मुझे अपना यदि समझतीं तो आज यह दशा न होती। खैर, मैं ज्यादा न बोल सकूँगा। अब आगई हो, अपना घर देखो और जीवन को सुखी बनाओ। प्रभा को ब्याह देना—यदि वह करना चाहे। अनूप यदि कभी आजाय, मेरी ओर से उससे कहना कि अपने पिता को क्षमा करदे।

तुम्हें और बेटी सावित्री को सुखी करे, इससे अधिक मुझे कुछ नहीं कहना है !

भैया भी आगए बाबूजी !—यह प्रभा का स्वर था।

मरणासन्न की आखों मे फिर एक बार चमक आई—क्षण-भर के लिए। उसी एक क्षण में सदाशिव ने देख लिया, अनूप पावो पर सिर रक्खे रो रहा है। चाहा उन्होंने कि उठकर उसे उठालें पर शक्ति कहाँ। गिर पड़े और सदा के लिए उनकी आँखें मुँद गई।

थोड़ी देर तक कोई जान न सका। सब ने समझा, थकावट के कारण उन्होंने आँखें बन्द कर ली हैं पर वह कैसी थकावट थी, यह बाद में लोग जान पाए। इसी बीच प्रभा ने आगे बढ़ कर कहा—भैया, यही माँ हैं। चरण छुओ।

अनूप इस अवसर पर मान नहीं कर सका। झुका और झुकते ही उसकी आँखों ने देखा— रेखा ! उसकी माँ और वह होटल की रेखा ! ज्योति ने देखा—जीवन कृष्ण ! उसका पुत्र ! और वह होटल वाला युवक जीवन कृष्ण ! यह क्या पहेली है !

ज्योति एक चीख मारकर बेहोश हो गई, अनूप ने हाथो पर सम्हाल लिया। अनूप लड़खड़ाने लगा, सावित्री ने लज्जा त्याग, सहारा दिया। प्रभा कुछ जान न सकी, वह सदाशिव पर झुकी हुई थी। व्यर्थ पुकार रही थी—बापूजी, बाबूजी !

अनूप ने अपने को सम्हाल, पूछा—क्या है प्रभा !

प्रभा—ये बोलते क्यों नहीं ! देखो न, इनका तो बदन भी ठण्ढा हो गया।

मृत्यु की बात सुखद नहीं, उसे क्यों बढ़ाया जाय ? अनूप ने दाह किया। माँ और बेटे मिले, पर यह मिलन न होता तो क्या कुछ अनुचित था ?

प्रभा ने जरूर सदाशिव की मृत्यु के दो तीन दिनों बाद अनूप से कहा था—भैया, चाहे तुम अखबार में बीमारी की खबर पढ़कर आए चाहे जैसे आए, मैं यह जरूर कहूँगी कि तुमने ही बाबूजी की जान ली !

अनूप सिर झुकाए, बैठा रहा।



## पन्द्रह

देवेन्द्र आज जेल जा रहा है। काम उसका अब समाप्त होगया है। जिस दिन से उर्म्मिला की नौकरी लग गई है, लगता है कि देवेन्द्र का भार हलका होगया है, बल्कि वह भारमुक्त होगया है और अब जी भर वह देश का काम कर सकता है। यह नही कि वह उस दिन की वात भूल गया हो जब उर्म्मिला ने कहा था—यह वन्धनविहीनता एकपत्तीय नहीं होगी। नारी को मुक्त करने के मूल में पुरुष की स्वत मुक्ति की भावना भी हो सकती है। वात उसकी सही है, यह देवेन्द्र समझता है। नारी के नग्न अगो के प्रति नर की भूख सदा, सर्वदा योही वनी रहेगी और जव भूख है तो उसे मिटाने का साधन भी नर खोज ही लेगा। रह गई सतान की वात, सो उसके लिए विशेष व्यग्र आज कोई भी नही होता न नर और न नारी। विना किसी तरह का वोझ उठाए यदि जीवन का वास्तविक आनन्द मिल सके तो अध्यात्म और दर्शन की वात सोचने वाले विरले ही होंगे।

तो, देवेन्द्र आज जेल जा रहा है। उर्म्मिला को स्कूल में काम करते एक महीना होगया है, पहले मास का वेतन भी वह

पा गई है और उसी से बच्चे के लिए दुनिया भर की चीज़ें ख़रीद लाई है। कल रात बड़ी देर तक दोनों—देवेन्द्र और उर्म्मिला—बच्चे के आगे एक एक खिलौना रखते रहे, एक एक कपड़ा उसे पहनाते रहे और उसे लेकर खेलते रहे। लगता था कि देवेन्द्र को और कहीं कोई काम नहीं रह गया है, बस, वह है और उसकी छोटी-सी गृहस्थी! पर आज सवेरे उर्म्मिला ठीक से उठ भी नहीं पाई थी कि देवेन्द्र का स्वर उसे सुन पड़ा—सुनती हो ऊर्म्मि, मुझे आज जेल जाना है।

उर्म्मिला एकदम उठ बैठी—क्या कहा?

देवेन्द्र—आज मैं 'अरेस्ट' हो जाऊँगा। तुम घबराना नहीं, रुपए अभी मास भर के लिए तुम्हारे पास हैं। यह समाप्त होते न होते अगले मास का वेतन भी मिल जायगा। नन्हे को ज़रा होशियारी से रखना, वह बीमार-वीमार न पड़ने पावे। यह सब अभी इसलिए कह दे रहा हूँ कि शायद पुलिस आ जाने पर समय न मिले।

जेल! पुलिस! अरेस्ट! यह नहीं कि जीवन में पहली बार उर्म्मिला ये शब्द सुन रही हो, देवेन्द्र का जैसा जीवन-क्रम था उसमें ये शब्द आए-दिन के खेल थे पर तब भी इस समय वह काँप गई। उसे लगा कि वह किसी अज्ञात शक्ति से देवेन्द्र के [illegible] से दूर ही हटती जा रही है, दूर—अधिक दूर! किसी [illegible] अनूप वाली घटना के बाद वह पुनः अपने से समझौता कर पाने में समर्थ हुई थी, आज फिर व्यवधान का यह समाचार

उसे सुनना पड़ रहा है। और इसमे उसका वश भी नहीं, देवेन्द्र की देह का कण कण देश के काम आ जाय, उसे तो 'अपने' भगवान से यही प्रार्थना करनी है न ! तो, वह कुछ बोल भी नहीं सकती—जो होना हो, हो। वह केवल देवेन्द्र का मुँह निहारती रह गई। उस मुख पर आज शहीदो का तेज था।

तभी वहाँ एकदम घड़धड़ाता चला आया अनूप। बालो पर कघी तक न फिरी थी, स्लीपिङ्ग-सूट पर कोट डाल, चला आया था। ऐसे ही अस्तव्यस्त दशा मे, शनिग्रह की भाँति, उस दिन भी तो वह आया था ! न नमस्कार, न प्रणाम, एकदम देवेन्द्र से कह उठा—तो तुम चल दिए आज ससुराल ?

जाने क्यो देवेन्द्र इस समय हँस नही सका जी-भर। ज़रा-सा मुसकिरा कर कहा—हाँ भाई, जाना ही तो है ! पर तुम्हें कैसे मालूम हुआ ? और फिर, इतने सवेरे कैसे आ ही सके तुम ? भले आदमी, कपडे तो ठीक ठिकाने पहन लिए होते ! शायद सिगरेट-विगरेट भी भूल आए होगे ! चाय.....

अनूप इतने ज़ोर से हँसा कि उर्म्मिला को लगा, यह पागल होगया है ! अट्टहास का वेग जब शात हुआ तो बोला—मैं अपने मरने के समय क्या वसीयत छोड जाऊँगा, जानते हो ? लिख कर रख लिया है। तुम्हारे सवाल से उसकी याद आगई। रुपए-पैसे तो मेरे पास बचेंगे नहीं जो उनके बटवारे के लिए कुछ लिखना हो, तभी मेरी वसीयत बहुत सीधी-सादी है। उसमें लिखा है—मेरी चिता पर दो-तीन टिनें गोल्डफ़्लेक सिगरेटो

की और दो ही तीन डब्बे दियासलाइयों के रख दिए जायँ, ताकि यहाँ से स्वर्ग तक की मेरी यात्रा आराम से हो जाय। वहाँ पहुच कर, बाबा चित्रगुप्त से कह सुनकर और मँगवा लूँगा। रह गई चाय, सो उसके बनाने की झंझट है, नहीं उसे भी रखवा लेता। खैर, मेरे कहने का मतलब खाली यह है कि जब मरते समय सिगरेट नही भूल सकता तो इस समय कैसे भूलूँगा? हाँ, चाय जरूर नही जल्दी मे पी सका‥‥ ‥पर तुम बेवकूफ हो। ऊर्म्मि कहाँ है? वह होती तो चाय के लिए मुझे अपने मुँह से कहना न पडता—अब तक आगई होती बनकर।

देवेन्द्र यह सब सुनकर—अद्भुत वसीयत की बात जानकर—अब अपने को हँसने से नही रोक सका। अनूप ने जेब मे सिगरेट-केस निकाला, एक स्वय लिया और एक देवेन्द्र को दी। कहा—लो, यह आखिरी सिगरेट पीलो। जेल मे इस न्यामत के लिए तरस कर रह जाओगे।

ऊर्म्मि पीछे खडी थी, अनूप अब तक उसे नहा देख पाया। अच्छा ही है, वह धीरे से चाय बनाने भीतर चली गई। कितनी सही बात थी अनूप की—ऊर्म्मि उसकी आदतो को जानती है! उसके आते ही चाय सामने न आजाए तो अनूप यह क्यो न समझ ले कि ऊर्म्मि वहाँ नही है! अनूप ने ही तो एकबार था—अब तक जीवन मे बहुत-सी स्त्रियाँ आई, पल भर ही और चली गई पर तुम जहाँ तक पहुँच सकी हो रानी,

वहाँ तक कोई नहीं पहुँच सका। क्षणभर जी बहला लेना और बात है और मन में सदा के लिए किसी को बसा लेना दूसरी बात। और क्षणभर जी बहला लेना तन का तकाजा है, मन का नहीं।

चाय बनाते बनाते ऊर्म्मि यही सोच रही थी, यह आज आया कैसे? जब निमंत्रण दिया गया, तब तो यह आए नहीं, आज बिना बुलाए मौजूद हैं। और जब आए हैं तो ऐसे, जैसे कभी कहीं कुछ हुआ ही न हो। बादल का एक छोटा टुकड़ा भी तो मुख पर नहीं है, वही मुक्त हास्य, वही अल्हड़ वेश, वही बे सिर-पैर की बातें जिस पर मर मिटने को जी चाहता है। वसीयत करेंगे बिचारे! अच्छा, वसीयत तो मरने के समय आदमी करता है न! ये ऐसी बातें क्यों करते हैं—यह क्यों नहीं सोच पाते कि इन बातों के सुनने से किसी को दुःख भी हो सकता है, कोई आकुल व्याकुल भी हो जा सकता है! क्या इन्हें यह नहीं मालूम है कि पत्थर का हिया भी पानी हो जाना जानता है।

चाय तो—देर या सवेर—बन ही जानी थी और उसे लेकर उर्म्मिला को वहाँ आना ही था। पीते पीते अनूप ने कहा-उर्म्मि, माफ करना, तुम्हें नमस्कार नहीं कर सका और अब जूठे हाथों से नमस्कार कर तुम्हारा अपमान भी नहीं करना चाहता। समझ लो कि मैंने नमस्कार कर लिया।

देवेन्द्र—अरे, यह सब तो हुआ अनूप ! इस शिष्टाचार की अब ज़रूरत नहीं रही ! यह बताओ, आज सुबह सुबह तुम आ कैसे सके ?

अनूप—क्यों, सुबह क्या भले आदमी नहीं चला करते ! और फिर मैं तो निशाचर ठहरा, मुझे रात को नींद ही कहाँ आती है ? मेरे पास तो कोई ऐसा नहीं जिसके तन का मधुर स्पर्श पा मैं सो रहूँ, जो मुझे · · · खैर, बात यह है कि तुम आज जाने वाले थे, तभी मुझे आज यहाँ आना ज़रूरी लगा। फिर क्या जानें, कब भेंट हो ! पत्रों से यह तो मुझे मालूम ही हो गया था कि आज तुम्हारे 'सत्याग्रह' आफर करने की बात है। यह तय था कि उसके पहले ही सरकार बहादुर तुम्हे सुसराल पहुँचा देगी। तुम्हे बेकार भीड़ लगाकर बोलने वह नहीं देगी।

देवेन्द्र—क्या गवर्नमेंट की कारगुज़ारी पर तुम्हे इतना भरोसा है !

अनूप—इतना ही नहीं, इससे भी अधिक ! वह तो तुमने गाव जाकर सत्याग्रह करने की बात ज़िला मैजिस्ट्रेट को लिखी थी, यदि लिखते कि तुम नरक के द्वार पर जाकर सत्याग्रह करोगे तो शायद वहाँ तक तुम्हारे पीछे पुलिस भेजी जाती !

देवेन्द्र ने हँसकर कहा—पागल, पुलिस मुझे नरक जाने ही क्यों देती ? यहीं न क़ैद कर लेती !

अनूप—वाह, यहाँ कैसे पकड सकते थे ! उन्हे ,क्या कानून नहीं मालूम !एक बार तुम वहाँ जाने दिए जाते, फिर वहीं

यमराज से गवर्नमेंट कहती कि महाराज, यह हमारा मुजरिम है। इसे हमारे जुरिसडिक्शन मे 'ट्रांसफर' कर दीजिए। अरे, ऊर्म्मि, तुम भी तो कुछ बोलो !

ऊर्म्मि क्या बोले ! यह आज पहला अवसर था जब देवेन्द्र ने बरवस उसे अनूप के साथ ही, अपने सामने चाय पीने को बैठा लिया था। वह पी रही थी और सोच रही थी। जेल जाने की बात उसे भूल ही गई, अनूप की बातो ने उसे सोचने को बाध्य किया कि क्या यह कभी सभव है? उस दिन के देवेन्द्र और आज के देवेन्द्र मे महान् अन्तर है! उस दिन के देवेन्द्र पर रोष होता था, घृणा होती थी, आज के देवेन्द्र के प्रति स्नेह उमड़ता है, उस पर श्रद्धा करने को जी चाहता है! पर देवेन्द्र निर्विकार भाव से बैठा, अनूप की बातों पर हँसता, चाय पिए जा रहा था।

द्वार पर यू० पी० पुलिस की लारी आगई थी, साथ ही देवेन्द्र की 'जय' के नारे भी आरम्भ हो गए थे। देवेन्द्र जल्दी-मे कप टेबुल पर रख, बाहर आया। जयध्वनि तीव्र हुई। पुलिस अफ़सर ने आगे बढकर कहा—यह आपका वारंट है। दस्तख़त बना दिजिए। तयार होने के लिए आपको दस मिनट का समय दे सकता हूँ।

देवेन्द्र भीतर आकर बोला—चल दिया ऊर्म्मि ! अनूप, तुम्हें आज फिर पाकर मेरी सारी चिन्ता दूर होगई। इन्हें देखते रहना—यद्यपि किसी की आवश्यकता अब इन्हें न होगी